प्राचीन भारत में भौतिकवाद

चार्वाक/लोकायत एक अध्ययन

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
नई दिल्ली

मूल्य : २५ रुपये

अनुवादक : रामशरण शर्मा 'मुंशी'

ISBN 81-7007-110-0

पी. पी. सी. जोशी द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी झांसी रोड, नयी दिल्ली
से मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
नयी दिल्ली-५५ की तरफ से प्रकाशित।

प्रेरणा के अनिबंध स्रोत
एस. जी. सरदेसाई
को
समर्पित

प्राक्कथन

आरम्भ में मैं भारतीय दर्शन अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली, (दि इण्डियन काउंसिल ऑफ फिलॉसॉफिकल रिसर्च, न्यू डेल्ही), को हार्दिक धन्यवाद देना चाहता हूं जिसने मुझे राष्ट्रीय फेलोशिप से विभूषित कर पूर्णत: दार्शनिक गतिविधियों में संलग्न रहने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया है। इसके बिना, युक्तियुक्त अल्प अवधि के भीतर वर्तमान पुस्तक को पूरा कर पाना मेरे लिए कठिन हो जाता। इसके अलावा, लगभग दो वर्ष पहले भारतीय दर्शन अनुसंधान परिषद ने मुझसे एक पांडुलिपि तैयार करने को कहा था जो, मैं समझता हूं, चार्वाक/लोकायत : स्रोत-सामग्रियों एवं महत्वपूर्ण गवेषणाओं का संकलन शीर्षक से शीघ्र ही पुस्तक रूप में प्रकाशित होने वाली है। इसे तैयार करने के क्रम में, मुझे इस दर्शन के इधर-उधर बिखरे अवशेषों का दुबारा अवगाहन करने का अवसर मिला और यह देखने का भी मौका मिला कि भारत तथा विदेशों के अधिक ख्यातनामा विद्वान इस दर्शन के प्रति किस तरह का दृष्टिकोण अपनाते हैं। उक्त पांडुलिपि को तैयार करने के लिए एकत्रित सामग्री का वर्तमान पुस्तक में काफी मात्रा में उपयोग किया गया है।

जहां तक इस पुस्तक की विषय-वस्तु की बात है, मुझे इस सिलसिले में मुख्यत: दो बातें कहनी हैं।

पहली, मेरी पुस्तक लोकायत : प्राचीन भारतीय भौतिकवाद संबंधी एक अध्ययन (लोकायत : ए स्टडी इन एंशियेंट इंडियन मैटीरियलिज्म) (नई दिल्ली, १९५९) के प्रकाशन के कुछ ही दिनों बाद प्रोफेसर वाल्टर रुबेन ने इसकी एक लम्बी और अत्यंत उत्साहवर्द्धक समीक्षा लिखी। उस समय तक मेरा इस महान भारतविद—दरअसल मेरी जानकारी में तो महानतम भारतविदों में से एक—से कोई निजी परिचय नहीं था। समीक्षा के प्रकाशन के एक या दो साल बाद प्रोफेसर रुबेन कलकत्ता पधारे। उनके कार्यक्रम ने जिस हद तक भी मौका दिया, मैं उनके साथ-साथ लगा रहा—शब्दश: एक किस्म की उत्कंठा के वशीभूत होकर कि उनसे जितना भी सीख सकूं सीख लूं।

एक घटना मुझे अब तक बहुत अच्छी तरह याद है। पार्क स्ट्रीट में हम लोगों ने किसी जगह दोपहर का भोजन किया था और उसके बाद विक्टोरिया

मेमोरियल उद्यान की तरफ थोड़ा आराम और विश्राम करने को निकल पड़े थे। लेकिन आम तौर से 'सुस्ताना' या 'आराम करना' जिस रूप में समझे जाते हैं, उनके स्वभाव के लिए दरअसल बेगाने थे। उद्यान में एक बेंच पर बैठे-बैठे वह मुझसे चर्चाओं और बहसों में डूबे हुए थे। और तभी बात करते-करते वह अचानक रुक गये। सीधे मेरी आंखों में देखा और बोले : "मैं तुमसे एक सवाल का सीधा जवाब चाहता हूं। अपनी पुस्तक लोकायत में तुमने इस दर्शन के उद्गम से सम्बंधित तमाम किस्म की बातों की विशेषतः चर्चा की है। लेकिन मैंने इसके दार्शनिक मूल्यांकन का पर्याप्त उत्साह तुममें नहीं पाया। ऐसा क्यों है? क्या तुम सचमुच यह सोचते हो कि इस दर्शन के मूलाधारों का समर्थन सम्भव नहीं?" यह सवाल बरसों मेरे दिमाग में गूंजता रहा। और, बाद में जब भी उनसे मुलाकात का मौका मिलता—खास तौर से बर्लिन में, जहां प्रचुर मात्रा में उनका व्यक्तिगत स्नेह अर्जित करने का मुझे अकस्मात सौभाग्य प्राप्त हुआ था—मैं इस सवाल पर लौटना चाहता। मैंने उनसे उन बहुत-सी बातों का स्पष्टीकरण हासिल किया जिनका प्रोफेसर रुबेन के स्तर का ही कोई विद्वान स्पष्टीकरण कर सकता था। और अन्ततः मैं इस बात का पूरी तरह कायल हो गया कि उस प्राचीन समय के संदर्भ में, लोकायत दर्शन का निश्चय ही अपना गहन महत्त्व था। उसी सब चर्चा का परिणाम यह पुस्तक है। मेरे लिए यह एक गहनतम व्यक्तिगत त्रासद घटना है कि मैं अभी इस पुस्तक को समाप्त कर ही पाया था कि प्रोफेसर वाल्टर रुबेन ने संसार से विदा ले ली। मैंने निश्चय ही इसकी प्रथम प्रति तत्काल उनके पास भेजी होती और उनसे पूछता कि उस ऋण से मैं कहां तक उऋण हो पाया हूं जिसे हमारे यहां पारंपरिक रूप में आचार्य-ऋण कहा जाता है।

दूसरी, मैं कुछ शब्द इस पुस्तक को प्रस्तुत करने के लिए अपनाये गये तरीके के बारे में कहना चाहता हूं। मेरे बहुत से शुभचिन्तकों ने—जिनमें से एक वह भी हैं जिन्हें यह पुस्तक समर्पित करने की मैंने स्वतंत्रता ली है—बार-बार मुझसे इस दर्शन को संक्षिप्ततर और सरलतर रूप में प्रस्तुत करने का अनुरोध किया है और वह भी प्रथमतः उन श्रमिक जनों के उपयोग के लिए जिनकी विचारधारात्मक आवश्यकताओं को पूरा करना इसका मकसद है : स्वयं लोकायत शब्द की व्युत्पत्ति इस ओर स्पष्ट संकेत है। इसका अर्थ ही था लोक का, जनता का, दर्शन। "कितने श्रमिक जनों को," मेरे नेक मित्रों ने मुझसे बार-बार पूछा है, "विद्वत्ता और पांडित्य से पूर्ण आपकी भारी-भरकम पुस्तकें पढ़ने का समय, अवकाश व दूसरी जरूरी सुविधाएं उपलब्ध हैं?" मेरे युवा मित्र, बंगलौर के डॉ. जी. रामकृष्ण और कलकत्ता के

डॉ. रामकृष्ण भट्टाचार्य—जो दोनों इतने आत्मीय हैं कि मेरी त्रुटियां इंगित करने तक में नहीं चूकते—बार-बार मुझसे कहते रहे हैं कि अपनी अधिकांश रचनाओं में मैं प्रतिरक्षात्मक दृष्टिकोण अपनाता रहा हूं। अपनी रचनाओं के एक चरण तक संभवतः यह आवश्यक था, क्योंकि इनमें मुझे धारा के विरुद्ध आगे बढ़ना पड़ रहा था। दोनों रामकृष्णों का कहना है कि अब मुझमें उस चरण से बाहर निकल आने की भावना आनी चाहिए। उनका कहना है कि थका देने वाले उद्धरणों, टिप्पणियों और संदर्भों की गरिमा से पुस्तक को मण्डित करने की चिन्ता को दरकिनार कर, मुझे इस दर्शन को लोकप्रिय बनाने वाली पुस्तक लिखनी चाहिए। मैं स्वयं उनके दृष्टिबिन्दु को समझ सका और आखिर इसे इस तरीके से प्रस्तुत करने का मार्ग अपनाया कि यह विद्वत्ता के प्रदर्शन से मुक्त हो। खुद अपने सुझाव की पूर्ति के उपलक्ष में डॉ. रामकृष्ण भट्टाचार्य पुस्तक की पांडुलिपि का आरम्भ से अन्त तक पुनरीक्षण करने को सहमत हो गये। मैं नहीं जानता कि प्राचीन भारत में भौतिकवाद का यह समर्थन 'भद्रजनों' को कहां तक सहन हो पायेगा। लेकिन यदि यह पुस्तक मुख्यतः उन लोगों के तनिक भी काम आती है जिनके लिए बुनियादी तौर से यह लिखी गयी है, तो इससे अधिक संतोष मुझे किसी दूसरी बात से नहीं होगा।

अन्त में, मैं डॉ. मृणाल कान्ति गंगोपाध्याय के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूं, हालांकि इसका ठोस संदर्भ इंगित कर पाना मेरे लिए कठिन है। भारतीय दार्शनिक पाठों के गहन अवगाहन और संस्कृत भाषा पर अपने अधिकार के फलस्वरूप, वह बहुत वर्षों से मेरे कार्य में मेरी सहायता करते आ रहे हैं यद्यपि प्रायः ही स्वयं दर्शन और उसकी सामाजिक क्रियात्मकता सम्बंधी मेरी बुनियादी समझदारी को लेकर उनका मुझसे कमोबेश तीव्र मतभेद हो जाता है। पुस्तक में प्रस्तुत विचारों के लिए—और तमाम त्रुटियों के लिए भी—पूर्णतः उत्तरदायित्व ग्रहण करते हुए मैं यह बता देने को भी आतुर हूं कि डॉ. गंगोपाध्याय की सहायता के बिना मेरा यह प्रयास काफी हद तक पंगु बना रहता।

३, शंभुनाथ पंडित स्ट्रीट, देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय
कलकत्ता ७०००२०
२५ मार्च, १९८८

अनुक्रम

पहला अध्याय

परिचयात्मक

१. दर्शन और दार्शनिक शब्दाडम्बर

मैं कुमारिल की एक टिप्पणी से आरम्भ करूंगा। वह लगभग आठवीं या नौवीं सदी के दर्शनवेत्ता थे। उनके कट्टर से कट्टर आलोचकों को भी उनकी पैनी बुद्धि का लोहा मानना पड़ा है। उनकी प्रतिभा अगर अनूठी नहीं, तो कम से कम ऐसी जरूर थी जिसकी समूचे भारतीय दार्शनिक पटल पर कम ही मिसालें मिलती हैं। इसके साथ ही, जब किसी मत का खण्डन करने का प्रश्न उनके सामने होता, तो वह तीक्ष्ण व्यंग्य का भी समावेश करते और विरोधी मत की धज्जियां उड़ा देते।

उनकी टिप्पणी का शब्दश: अनुवाद करने से पहले, भूमिकास्वरूप कुछ शब्द कह देना शायद बेहतर होगा। उनकी प्रमुख दार्शनिक रचना, श्लोक-वार्तिक, श्लोकों में रचित है। यही कारण है कि उनका कथन किंचित क्लिष्ट है और फलत: उसके बारे में पहले से कुछ बता देना जरूरी है।

हम जिस श्लोकांश को उद्धृत करने जा रहे हैं, उससे वह एक दार्शनिक कपट की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। इसका प्रयोजन शब्दाडम्बर द्वारा लोगों को छलना था। भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग करके दार्शनिक, ऊपरी पांडित्य का दिखावा करते हुए, कोई नितांत निरर्थक बात कह गुजरते हैं। यह कपट, स्पष्ट ही, किसी दार्शनिक की स्थिति की वास्तविक कमजोरी के अनुसार गहरा या हल्का होता है : दार्शनिक की स्थिति जितनी ही कमजोर होती है उतने ही भारी शब्दाडम्बर के नीचे वह उसे छिपाना चाहता है।

उन्होंने इसका एक रोचक उदाहरण रोजमर्रा की जिन्दगी से हमारे सामने प्रस्तुत किया है। संस्कृत में लार के लिए एक बहुत सरल शब्द है। यह शब्द है लाला। प्रत्येक पाठक जानता है कि मुंह में आने वाली लार से क्या मतलब होता है। इसके लिए संस्कृत में एक बहुत पांडित्यपूर्ण शब्द भी है। यह शब्द है वक्त्रासव। यह शब्द इतना अप्रचलित है कि इसे मैं मोनियर-विलियम्स रचित भारी-भरकम संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी में नहीं खोज पाया, हालांकि यह वी. एस. आप्टे के उस शब्दकोश में मिल गया जिसको

भिन्नतावश वह स्टूडेंट्स संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी कहते हैं। जो भी हो, यह शब्द किसी साधारण मनुष्य की समझ में आने वाला नहीं है। इसलिए, इस शब्द को सुन कर मनुष्य आश्चर्यचकित रह जायेगा और सोचने लगेगा कि इसका मतलब किसी साधारण नहीं, बल्कि जरूर बहुत ही गूढ़ चीज से होगा। लिहाजा उस मनुष्य द्वारा कोई गम्भीर आपत्ति उठाये जाने की सम्भावना ही खत्म हो जाती है।

इस तरह उत्पन्न किया गया आश्चर्य का भाव आधारहीन है। किन्तु, आधारहीन होते हुए भी प्रयोजनहीन नहीं है।

और प्रयोजन बहुत सीधा-सादा है। प्रयोजन है—ज्ञान का वहां ढोंग रचना जहां मात्र तुच्छता, या निरी बकवास है। इस तरह, **लाला** शब्द का अर्थ **वक्त्रासव** शब्द के अर्थ से कतई भिन्न नहीं है। किन्तु, **वक्त्रासव** शब्द के प्रयोग में एक अतिरिक्त लाभ यह है कि इसके द्वारा लोगों को छला जा सकता है—और वह भी झूठे पांडित्य का दिखावा करते हुए। तो अब कुमारिल के श्लोकांश का अनुवाद :

"इस प्रकार **लाला** के लिए **वक्त्रासव** शब्द केवल लोगों को छलने के लिए गढ़ा गया।"

यह बात हालांकि एक भारतीय दार्शनिक ग्रंथ में कही गयी है, तथापि यह सोचना गलत होगा कि ऐसा कपट कोई भारतीय विशेषता रही है। लेनिन की रचना **भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना** से परिचित पाठक जानते हैं कि बर्कले के मनोवादी आदर्शवाद को तरह-तरह के पांडित्यपूर्ण शब्दाडम्बर में छिपाने का प्रयास करने वाले अपने समय के कतिपय प्रच्छन्न-आदर्शवादियों का पर्दाफाश करने के लिए लेनिन को कितनी ही बार मूलत: इसी कपट की ओर संकेत करना पड़ा था। लेकिन लेनिन से बहुत पहले, प्राचीन यूनानी औषधिविज्ञान के प्रतिनिधि भी अपने विज्ञान में इसी शब्दाडम्बर के प्रवेश के खिलाफ आवाज उठा रहे थे। इस तरह, उनकी रचनाओं में कहा गया है : "अगर साधारण जन आपकी बात नहीं समझ पाते...तो आप यथार्थ को नहीं समझ पायेंगे।" यह उक्ति एक लम्बे अर्से तक मेरे मन में गूंजती रही है। दर्शनवेत्ताओं को इससे बहुत कुछ सीखना है।

लेकिन आइए, हम कुमारिल की ओर लौटें। आरम्भ में ही उन्हें उद्धृत करने का एक स्पष्ट कारण किसी हद तक व्यक्तिगत है। मेरी इच्छा है कि इस पुस्तक को अधिकतम सम्भव व्यापक पाठक समुदाय प्राप्त हो सके। इसलिए जितनी भी सहज और सीधी-सादी भाषा का प्रयोग मुझसे बन पड़ेगा, मैं यहां करने का भरसक प्रयास करूंगा। विद्वानों को प्रभावित करने या अपना

पांडित्य प्रदर्शित करने के इरादे से मैंने इसे लिखने का फैसला नहीं किया। इसके विपरीत, मेरा मुख्य उद्देश्य सामान्य पाठक को सम्बोधित करना है ताकि वह खुद प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के भौतिकवादी दर्शन के वास्तविक महत्व का आयजा ले सके। सदियों तक इस दर्शन को निकृष्ट बता कर निन्दा की गयी है। लेकिन जहां तक मैं देख सकता हूं, यह उतना निस्सार अथवा मूर्खतापूर्ण नहीं, जितना कि आम तौर से इसे दिखाने की कोशिश की जाती है। इसमें बहुत कुछ दार्शनिक क्षमता थी, हालांकि हमारे समसामयिक तकाजों को पूरा करने के लिए इसे आधुनिक ज्ञान से पोषित किये जाने की जरूरत है। इसकी निन्दा करने का एक तरीका इसके खिलाफ दार्शनिक शब्दाडम्बर का अम्बार खड़ा कर देना था, और आज भी यह जारी है। लेकिन, जैसा कि कुमारिल ने कहा है—और उचित ही कहा है—दार्शनिक शब्दाडम्बर के दिखावे के नीचे दरअसल कोई तत्व की चीज नहीं होती। यह इन्द्रजाल के करतब दिखाने वालों की उस अर्थहीन शब्दावली की तरह है जिसके जरिये वे असली चीज की तरफ से आपका ध्यान हटा देते हैं ताकि उनकी हाथ की सफाई की तकनीक को आप पकड़ न सकें।

पुस्तक का उद्देश्य इस रूप में समझ लिये जाने पर, मुझे कुछ शब्द और कह देने हैं। पांडित्य-प्रदर्शन के पीछे लपकने के लोभ से पुस्तक को अनेकानेक उद्धरणों, टिप्पणियों और संदर्भों से बोझिल बना देने से मैं जानबूझ कर बचा हूं। मेरी दूसरी रचनाओं में आपको उद्धरण, टिप्पणियां और संदर्भ मिलेंगे। मैं जो प्रमाण इस पुस्तक में प्रस्तुत करने जा रहा हूं, उनकी सच्चाई में यदि किसी पाठक को सन्देह हो, तो वह मेरी अन्य रचनाओं को देख सकता है—बशर्ते कि उसमें इतना सब्र हो।

लेकिन इस व्यक्तिगत स्पष्टीकरण को लम्बा न खींच कर मैं अब कुमारिल पर लौट आना चाहता हूं। उनका जो मत हमने ऊपर उद्धृत किया है उसका महत्व बात कहने की उनकी शैली से कहीं अधिक है। इस तथ्य को समझने के लिए हमें उस दार्शनिक विवाद के संदर्भ को देखना होगा, जिसमें उन्होंने ऐसा कटु व्यंग्य किया था।

संदर्भ है उस दार्शनिक आदर्शवाद की युक्तियुक्तता का जो कि भौतिकवाद का विकल्प माना जाता है। कुमारिल आदर्शवादी दृष्टिकोण के, स्वयं अपने कारणों से, दृढ़ विरोधी होने के कारण उस खास तकनीक का निरावरण करना चाहते थे जिसके आवरण के नीचे आदर्शवादी अपनी एक बुनियादी कमजोरी को छिपाने की कोशिश करते हैं। इस बात को और अच्छी तरह समझने के लिए, भारतीय दर्शन में आदर्शवाद के संक्षिप्त रेखाचित्र से आरम्भ करना

बेहतर होगा। इसके बिना यह समझ पाना कठिन हो जायगा कि भौतिकवादी लोग किस चीज के लिए संघर्ष कर रहे थे।

२. भारतीय चिन्तन में आदर्शवाद

इतिहास की दृष्टि से देखें तो आदर्शवादी दृष्टिकोण की प्रथम पूर्वछाया उपनिषदों में मिलती है। इनका काल मोटे तौर से ईसा पूर्व छठी शताब्दी बताया जाता है। यह पूर्वछाया, परम सत्य (जिसे ब्रह्म कहा गया) को आत्मा से—प्रथमतः विशुद्ध प्राण अथवा चेतना के अर्थों में—समीकृत करने के रूप में अभिव्यक्त हुई। किन्तु उपनिषदों में यह एक किस्म के अन्तर्बोध अथवा आत्मानुभूति की घोषणा के रूप में है; आधुनिक अर्थों में तार्किक विचारों की दृष्टि से इसके समर्थन या पुष्टीकरण की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

तार्किक दृष्टि से इसका समर्थन करने का प्रथम प्रयास करने वाले व्यक्ति ख्यातनामा दार्शनिक बौद्धधर्मावलम्बी थे। उनका नाम था नागार्जुन—अत्यन्त सक्षम और सुयोग्य दर्शनवेत्ता, जिनका काल प्रथम या द्वितीय ईस्वी सन् माना जाता है। उनका दर्शन आम तौर से शून्यवाद के नाम से विख्यात है—अर्थात् "शून्य का दर्शन"।

उनका सीधा-सादा तात्पर्य यह था कि अनन्त रूपों और गति वाला यह जो जगत हम देखते हैं वह शून्य के सिवा और कुछ नहीं है, अर्थात् स्वयं इसकी अपनी कोई वास्तविकता नहीं है। यह तथ्य कि हम इस जगत का वास्तव में अनुभव करते हैं कुछ भी सिद्ध नहीं करता, क्योंकि हम जिसे आम तौर से सामान्य अनुभव समझते हैं उसके सत्य होने का दावा स्वप्न में देखी गयी चीजों जैसे अनुभव से अधिक कुछ नहीं है। क्या हम स्वप्नावस्था में सचमुच ही हाथी, महल व दूसरी तरह-तरह की चीजें नहीं देखते? किन्तु जागने पर हम पाते हैं कि स्वप्न में जिन चीजों का हमने अनुभव किया था, वे मात्र कल्पित चीजें थीं। इसलिए, वास्तविक अनुभव उनके यथार्थतः अस्तित्वमान होने का सबूत नहीं है। दरअसल, परम आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही हम समझ पाते हैं कि पदार्थ और गति मात्र कल्पित चीजें हैं। यह ज्ञान स्वप्न से जाग पड़ने के समान है। आध्यात्मिक रूप से जागृत होने पर हमारी समझ में आता है कि अपने वास्तविक अर्थों में सत्य इतनी गूढ़ चीज है कि उसका हमारी सांसारिक अथवा रोजमर्रा की भाषा में वर्णन किया ही नहीं जा सकता। भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में उसे अनिर्वचनीय कहा जाता है, अर्थात् "जो वचनों—शब्दों—द्वारा एकदम अवर्णनीय है"। जो अवर्णनीय है, वह, स्पष्टतः, इस ऐहिक जगत से सुदूरतम है।

भारतीय आदर्शवादियों में इनके बाद आते हैं—योगाचार, और उनका

विचार जिसको विज्ञानवाद, शाब्दिक अर्थों में "विज्ञान का सिद्धान्त", कहा जाता है। विज्ञान शब्द अपने प्रचलित रूप में इन दिनों यद्यपि अंग्रेजी के "साइंस" शब्द के अर्थों में प्रयुक्त होता है, तथापि भारतीय दर्शन में यह एक विशिष्ट अर्थ का बोधक था। विज्ञान शब्द से तात्पर्य था "विशुद्ध संवेदन" अथवा "विशुद्ध विचार"—कुछ वैसी ही चीज जिसे यूरोपीय दर्शन के इतिहास में बिशप बर्कले ने सर्वोपरि सत्य बताया था। इस प्रकार, संक्षेप में, ये दर्शनवेत्ता परम पदार्थ को "एकदम अवर्णनीय" कहने के बजाय "विशुद्ध विचार" अथवा "विशुद्ध संवेदन" कहना चाहते थे। इन दर्शनवेत्ताओं को योगाचार इसलिए कहा गया है क्योंकि इन्होंने योग के विषय पर बृहद साहित्य की रचना की है। योग से इनका मतलब था : ध्यानावस्था में एकदम लीन हो जाना। यदि कोई समाधिस्थ होकर गम्भीरता से ध्यानमग्न हो जाता है और लम्बी अवधि तक ध्यानमग्न रहता है—दूसरे शब्दों में बाह्य जगत से एकदम विलग होकर पूर्णत: आन्तरिक जगत में अवस्थित हो जाता है—तो वह विशुद्ध संवेदनों अथवा विशुद्ध विचारों के एकान्तिक सत्य को प्राप्त कर लेता है।

बेशक, ध्यान लगाने की इस विशिष्ट विधि पर दिये गये बल को यदि छोड भी दें, तब भी योगाचारों ने ऐसे बहुत से साहित्य की रचना की जिसमें इस दृष्टिकोण के समर्थन में किस्म-किस्म के तर्क प्रस्तुत किये गये हैं कि विचार, और मात्र विचार ही, यथार्थ है। अपने धार्मिक विचारों में ये योगाचार भी बौद्ध मतावलम्बी थे। और, इस दर्शन के संस्थापकों में सर्वाधिक प्रतिबद्ध थे—असंग और उनके भाई वसुबन्धु। ये दोनों ही लगभग पांचवीं शताब्दी के दर्शनवेत्ता माने जाते हैं।

अपनी दार्शनिक रचनाओं में नागार्जुन की शब्दावली से तमाम भिन्नताओं के बावजूद, योगाचार नागार्जुन द्वारा इस बात पर बल दिये जाने से पूरी तरह सहमत थे कि आम तौर से हम जिस भौतिक जगत को देखते हैं, वह कल्पना की मूर्खताभरी उपज जैसी है। इस बात को नागार्जुन जहां एक किस्म के नकारात्मक द्वन्द्ववाद से—अर्थात् इस तर्क से कि भौतिक जगत की किन्हीं भी चीजों को वास्तविकता प्रदान करने का प्रयास अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण है—सिद्ध करना चाहते थे, वहां असंग और वसुबन्धु यही बात ध्यानमग्न होने की विधि विशेष पर बल देकर, जहां तक सम्भव हो उसे तार्किक युक्तियों से परिपुष्ट करते हुए, लोगों के दिमाग में बिठाना चाहते थे।

आदर्शवादी दर्शन के अगले चरण में लगभग आठवीं सदी में शंकर इसके प्रमुख व्याख्याता के रूप में सामने आते हैं। धार्मिक विचारों में वह वेदों के, अथवा प्रचलित रूप में जिसे ब्राह्मणवाद कहते हैं उसके, कट्टर अनुयायी थे। फलत: अपने सम्प्रदाय से सम्बन्धित दायित्वों के कारण वह बौद्धों की उग्र

भर्त्सना करने को बाध्य थे। लेकिन हमारे देश में एक युगों पुरानी किंवदंती चली आती है जिसके अनुसार, बौद्धों की अपनी तमाम शाब्दिक निन्दा के बावजूद, स्वयं शंकर एक "प्रच्छन्न बौद्ध" थे। हमारे लिए इस प्रश्न में उलझना जरूरी नहीं कि क्योंकर और कब यह किंवदंती चल पड़ी, या कि इसमें कितनी सैद्धांतिक सच्चाई है। किन्तु यह स्पष्ट है कि दार्शनिक दृष्टि से—विशेषकर भौतिक जगत की वास्तविकता के प्रश्न के सम्बंध में—कहा जाय तो उनका मत, जो अद्वैत वेदान्त कहलाता है, शायद ही नागार्जुन के शून्यवाद अथवा असंग-वसुबन्धु के विज्ञानवाद से भिन्न हो। दूसरे शब्दों में, शंकर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी, प्रतिदिन अनुभव किये जाने वाले इस भौतिक जगत का कोई अस्तित्व नहीं है। इसकी सत्ता वैसी ही है जैसी स्वप्न में देखी गयी वस्तुओं की सत्ता या रस्सी में सांप देखने, मृगमरीचिका में पानी देखने, आदि जैसी भ्रांतियों की होती है।

जहां तक इसे सिद्ध करने की पद्धति की बात है, शंकर—बौद्धों से भिन्न—तार्किक युक्तियों के झमेले में नहीं पड़े। एकमात्र मुख्य प्रमाण जिसके बल पर वह इसे सिद्ध करना चाहते थे शास्त्रोक्त बातें थीं। इनसे उनका तात्पर्य प्रथमत: उपनिषदों में कही गयी बातों से था। सच तो यह है कि उन्होंने दूसरों के दिमाग में यह बैठाने का भरपूर प्रयास किया कि समस्त उपनिषद् एक ही अविभाज्य दर्शन की पुष्टि करते है, अर्थात उस दर्शन की जिसकी व्याख्या शंकर ने अद्वैत वेदान्त के रूप में की है। जहां तक युक्ति और तर्कों को जुटाने की पद्धति की बात है, उन्होंने इनके प्रति खुली घृणा ही दर्शायी—सिवा एक मामले के : तर्क की एक सीमित सार्थकता वहीं तक है जहां तक वह शास्त्रोक्त बातो को—उपनिषदों में घोषित बातों को—युक्तिसंगत ठहराने को सहमत होता है। लेकिन जहां उसने स्वयं में अपनी सार्थकता का तनिक भी दावा किया, वह वैध सीमा का उल्लंघन कर जाता है। इस प्रकार, जहां तक शास्त्रों के समर्थन की बात थी, इनके विपरीत जाने वाले किसी भी मत को खण्डित करने की तर्क को अनुमति थी। लेकिन इससे आगे तर्क की कोई भूमिका नहीं थी। यही कारण है कि शंकर ने अपने वृहद ग्रंथ का आरम्भ प्रमाणों में (प्रमाणों : शब्दश: "जानने के उपकरणों" के प्रचलित अर्थ में) एकदम अविश्वास की घोषणा के साथ किया। वह श्रीहर्ष जैसे अपने परवर्ती अनुयायियों के लिए बाल की खाल निकालने वाले पंडिताऊपन से एक मुद्दे का समर्थन करने का काम छोड़ गये—इस मुद्दे का समर्थन करने का काम कि सामान्यत: जिन अर्थों में "प्रमाण" को समझा जाता है, दर्शन में उसके लिए (यानी प्रमाण के लिए) कोई स्थान नहीं। प्रमाण के विरुद्ध श्रीहर्ष के तर्क-वितर्क खण्डन-खण्ड-खाद्य नामक ग्रंथ में मूर्त रूप धारण करते हैं। खण्डन-खण्ड-खाद्य का शब्दश:

अर्थ है "खण्डनों का मिष्ठान"। यह १२वीं शताब्दी की रचना मानी जाती है और साधारण पाठक पर अनूठे वाक्प्रपंच की छाप छोड़ती है।

तो ऐसा है भारतीय आदर्शवाद का संक्षिप्त रेखाचित्र। इस आदर्शवाद के मूल्य और वैधता के बारे में भारतीय दर्शन में वाद-विवाद का सचमुच ही एक तूफान उठ खड़ा हुआ था। किन्तु इस समय तो हमारी दृष्टि के केन्द्र में कुमारिल द्वारा आदर्शवाद का खण्डन है।

आदर्शवाद का खण्डन करते समय कुमारिल की सबसे ज्यादा दिलचस्पी उस चीज में थी जो आदर्शवादियों को ऐक्यबद्ध करती थी; आदर्शवादी जहां एक-दूसरे से मतभेद प्रकट करते हैं वह कुमारिल के लिए गौण महत्त्व की चीज थी—और दरअसल वह है भी निरर्थक। अपनी रचना (श्लोकवार्तिक) में उन्होंने आदर्शवाद के दो कथित बौद्ध रूपांतरों का नाम लेकर उल्लेख किया है—नागार्जुन के शून्यवाद का और असंग व वसुबन्धु के विज्ञानवाद का। लेकिन, दार्शनिक दृष्टि से देखने पर, उन्होंने जो कुछ इन दोनों के विरुद्ध कहा है, वही आम तौर से अद्वैत वेदान्त के सारतत्व पर लागू होता है।

तो कौन सी चीज थी जो भारतीय आदर्शवाद के सभी रूपों को ऐक्य-बद्ध करती थी? यह चीज थी उनका आधारभूत दावा कि जिस भौतिक जगत से साधारण मनुष्य अपना इतना सरोकार दिखाता है वह मात्र कल्पित है। स्वप्न में देखी गयी चीजों अथवा भ्रामक अनुभवों वाली वस्तुओं—जैसे रस्सी में सर्प या मृगमरीचिका में जल देखने जैसी चीजों—से अधिक वास्तविकता इस जगत की नहीं है।

३. आदर्शवाद और वास्तविक जीवन

अन्य बातों के अलावा, इस सिलसिले में कुमारिल ने जिस एक मुख्य बात पर जोर दिया वह यह थी कि साधारण मनुष्यों की बात तो छोड़िए, महानतम आदर्शवादियों का व्यवहार-संस्कार आदि स्वयं उनके आधारभूत दावों को झुठलाता है। मान लिया कि भौतिक जगत की प्रत्येक चीज सत्ता-रहित, मात्र कल्पित है; तब आदर्शवादियों के पास इसका क्या उत्तर है कि वे भूख लगने पर भोजन करने को और प्यास लगने पर पानी पीने को विवश हो जाते हैं—अपनी नग्नता ढकने के लिए वस्त्र के प्रयोग की तो बात ही क्या? जो भोजन उन्होंने खाया, जो पानी उन्होंने पिया, या तन ढकने के लिए जो वस्त्र उन्होंने धारण किये वे इसी वास्तविक जगत की यथार्थ चीजें हैं न! यदि आदर्शवादियों का यह दावा है—जो सचमुच ही उनका दावा है—कि यह सब तो मात्र अज्ञान से जन्मी मनःकल्पना है, तो फिर क्यों इस अज्ञान के पीछे इतनी भाग-दौड़? रस्सी में सर्प देखने की निस्संदेह उपेक्षा की सकती

है। लेकिन आदर्शवादी के सामने जब वास्तविक साँप आ खड़ा होता है तब क्या होता है? बेचारा आदर्शवादी सिवा दुम दबा कर भागने के या इस भौतिक जगत के नितांत भौतिक डंडे पर भरोसा करने के और कर ही क्या सकता है? आदि-आदि। संक्षेप में, मनुष्यों का वास्तविक अथवा व्यावहारिक जीवन—जिसमें स्वयं आदर्शवादी भी आते हैं—आदर्शवादी दृष्टिकोण पर बड़ी ही विध्वंसकारी टिप्पणी साबित हुआ।

भारत के आदर्शवादियों में इस प्रश्न का सामना करने का साहस मौजूद था और उन्होंने इसका एक उत्तर खोज निकाला। इस उत्तर की अभिकल्पना स्वयं नागार्जुन ने कर ली थी और बाद के सभी आदर्शवादियों ने वही उत्तर दुहराया। दूसरे शब्दों में, ऊपर उठायी गयी आपत्ति के विरुद्ध आदर्शवाद का समर्थन बड़ा प्रतिरूपात्मक था। और, ऐसे समर्थन के विरुद्ध ही कुमारिल की वह कटु व्यंग्योक्ति है जिससे हमने अपनी इस चर्चा को आरम्भ किया है।

४. "सत्य जो सत्य नहीं है"

क्या था वह प्रतिरूपात्मक उत्तर?

आदर्शवादियों ने दावा किया कि जिसे आम तौर से भौतिक जगत कहा जाता है वह बेशक मिथ्या है, कल्पित है। तो भी, हमारे व्यावहारिक जीवन के एकदम सीमित दृष्टिकोण से एक किस्म के "अस्थायी सत्य" को अथवा उसकी वैधता को स्वीकार किया जा सकता है। यह अस्थाई सत्य, बेशक, सामान्य भ्रम या सामान्य असत्य के ढांचे के भीतर रहता है। तथापि इस ढांचे के भीतर, भौतिक जगत की कुछ प्रयोगात्मक सच्चाई होती है, जिसे वास्तविक सत्य कतई नहीं समझ बैठना चाहिए। यह एक किस्म का बनावटी सत्य होता है। और यह, दर्शनशास्त्रीय दृष्टिकोण से तो नहीं, बल्कि मात्र जीवन के व्यावहारिक कार्यकलापों की दृष्टि से, ऐसा ही रहता है। दूसरे शब्दों में, बुनियादी तौर से हालांकि यह असत्य होता है, तो भी उतना असत्य नहीं जितना रस्सी में सर्प का या मृगमरीचिका में जल का दिखायी देना होता है। ऐसे असत्य के लिए, जो सत्य के रूप में प्रयोगात्मक मान्यता का तकाजा कर रहा था, उचित शब्दावली गढ़े जाने की भी जरूरत थी। शून्यवाद और विज्ञानवाद के अनुयायियों ने इसके लिए संवृति सत्य शब्दावली प्रस्तावित की, जिसका शाब्दिक अर्थ है "इस प्रकार का सत्य जो वास्तविक सत्य को ढके रहता है", हालांकि अद्वैत वेदान्त के अनुयायियों ने अधिक सीधी अभिव्यक्ति व्यावहारिक सत्य या "व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से सत्य हालांकि अन्ततः असत्य" पसन्द की।

इसी मुद्दे पर कुमारिल ने आदर्शवादियों की तीखी आलोचना की है।

उनके आक्रमण का केन्द्र बिन्दु प्रत्यक्षतः यद्यपि संवृति सत्य की अवधारणा थी, इससे वेदान्तवादियों के तथाकथित व्यावहारिक सत्य का भी लगे हाथ पर्दाफाश हो जाता था क्योंकि इन दोनों का अर्थ एक ही है।

क्या अर्थ है, कुमारिल ने प्रश्न उठाया, संवृति सत्य के इस वाक्जाल का? क्या आदर्शवादी लोग सचमुच सत्य और असत्य की बात कर रहे हैं? बौद्धिक ईमानदारी का तकाजा है कि समान संदर्भ से वे इनमें से किसी एक की बात करते, दोनों की साथ-साथ नहीं। किसी एक बात को आप या तो सत्य कहेंगे या असत्य, जैसे कोई एक पशु विशेष का जिक्र करते हुए उसे चीता बतायेगा या सिंह। लेकिन क्या उसे चीता और सिंह एक साथ ही कहा जा सकता है? इतने पर भी, संवृति सत्य से दरअसल कुछ ऐसा विचार प्रकट करने की कोशिश की जा रही थी जैसे "असत्य हालांकि किसी तरह सत्य" या "सत्य हालांकि सचमुच असत्य"। यह, कुमारिल ने कहा, निरी बकवास है—आदर्शवादी स्थिति के खोखलेपन को ढकने के लिए भारीभरकम शब्दाडम्बर मात्र है। यह लाला कहने के बजाय वक्त्रासव कहने के समान है ताकि एक शाब्दिक प्रकाशपुंज निर्मित कर दिया जाय और इस तरह गहन गांभीर्य का प्रदर्शन किया जा सके जबकि सचमुच कोई गांभीर्य हो ही नहीं।

कुमारिल के दृष्टिकोण से, सच कहा जाय तो, आदर्शवादियों की स्थिति वास्तव में बदतर थी। लाला के स्थान पर वक्त्रासव कहने से, बेशक, पांडित्य का प्रदर्शन होता है। लेकिन संवृति सत्य की बातें करना तो जानबूझ कर जनता की आंखों में धूल झोंकना था ताकि आदर्शवादी स्थिति की बुनियादी कमजोरी को चमकीले शब्दाडम्बर से ढका जा सके। इस पांडित्य प्रदर्शन के जरिये संवृति सत्य शब्दों को सुनने वालों से यह उम्मीद नहीं की जाती थी कि वे समझ लेंगे कि इनका मतलब क्या है; लेकिन यह अपेक्षा जरूर की जाती थी कि वे सोचने लगेंगे कि दार्शनिक सचमुच ही कोई बड़ी गम्भीर बात कह रहा है, तभी वह आसानी से समझ में नहीं आती। इस सब की आड़ में आदर्शवादी आशा करते थे कि वे अपनी स्थिति के खोखलेपन को छिपाने में सफल हो जायेंगे।

इस पुस्तक के मुख्य विषय की दृष्टि से, कुमारिल के ऊपर उद्धृत किये गये तर्क के महत्व को बढ़ाचढ़ा कर नहीं आंका जा सकता। हम यहां जिस विषय की चर्चा करना चाहते हैं वह है: भारतीय दार्शनिक परम्परा में भौतिकवाद। हम यह दर्शाने जा रहे हैं कि यह भौतिकवाद—प्राचीन काल की अपरिहार्य सीमाओं में आबद्ध होने पर भी—वास्तव में उतना मूर्खतापूर्ण नहीं था जितना आम तौर से हमसे मान बैठने को कहा जाता है। इसके विपरीत, इसमें बहुत कुछ सार्थक था—दरअसल, उन अनेक दार्शनिक

स्थितियों से कहीं ज्यादा सार्थक जिनके प्रतिनिधि सदियों से इसे खण्डित करने और इसकी खिल्ली उड़ाने की कोशिश करते रहे हैं। दूसरे शब्दों में, वर्तमान पुस्तक का उद्देश्य भौतिकवाद का समर्थन करना है। लेकिन, भौतिकवाद के किसी भी प्रकार के समर्थन की एक अनिवार्य पूर्वशर्त है—दार्शनिक आदर्शवाद का अस्वीकरण। सच तो यह है कि, जैसा कि आधुनिक भौतिकवाद के प्रतिनिधि दावा करते हैं, दर्शन के समूचे इतिहास में बुनियादी संघर्ष भौतिकवाद बनाम आदर्शवाद का रहा है।

५. सच्चाई की कसौटी, व्यवहार

ऐसा नहीं है कि आदर्शवाद के खण्डन का प्रयास दर्शन के इतिहास में कोई नयी बात हो। बहुत-से दार्शनिकों ने—पूर्वी और पश्चिमी, दोनों, ने ही—आदर्शवादी दृष्टिकोण के खण्डन का प्रयास किया है। तो भी, इस सिलसिले में सारगर्भित महत्व की एक बात का स्पष्टीकरण कर दिया जाना जरूरी है। यह बात खण्डन के तरीके या विधि के सम्बंध में है। जिन बहुत से लोगों को आदर्शवाद निरर्थक लगा और वे उससे परे हट गये, उनमें से अधिकांश ने उसका अस्वीकरण तर्कों अथवा सैद्धान्तिक विचारों के आधार पर किया। लेकिन यह काम आसान नहीं है और अन्ततः आदर्शवाद के फंदे में फंस जाने का खतरा बना रहता है। इसका कारण ढूंढने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं। आदर्शवादियों का बुनियादी दावा यह है कि चेतना ही—फिर वह विचार के रूप में हो अथवा किसी अन्य रूप में—अन्तिम यथार्थ है। लिहाजा, इस नजरिये से, चेतना ही यथार्थ को चलाती है। तर्क और सैद्धांतिक विचार आखिर चेतना की अभिव्यक्ति के स्वरूप ही तो हैं। इनकी कोई भी दुहाई देना, फिर वह कितनी ही स्थूल या सूक्ष्म क्यों न हो, विचार या चेतना की दुहाई देना होगा। इस तरह, आदर्शवाद को खंडित करने का कोई विशुद्ध सैद्धांतिक प्रयास अन्ततः आत्म-पराजयमूलक होगा। वह चेतना अथवा विचार द्वारा फैसला दिये जाने की अपील बन कर रह जायगा। इस तरह आदर्शवाद के विशुद्ध सैद्धांतिक खण्डन में, तमाम महत्व की बातों के बावजूद, आदर्शवाद के मूलाधार कमोबेश अक्षुण्ण बने रहते हैं। यही कारण है कि लेनिन ने टिप्पणी की थी कि "अकेले तर्क और हेत्वानुमान आदर्शवाद के खण्डन के लिए पर्याप्त नहीं हैं और...यहां सैद्धांतिक तर्कों का प्रश्न ही नहीं उठता।" लेनिन ने इस विषय की जो चर्चा की है वह पूरी की पूरी पढ़ी जानी चाहिए।

तो वह कौन-सी चीज है जो अन्ततः आदर्शवाद का तख्ता पलटती है? संक्षेप में उत्तर है—हमारे व्यावहारिक अस्तित्व का ठोस प्रमाण। कोई

आदर्शवादी अपनी स्थिति के समर्थन में सैद्धांतिक विमर्शों के एक पर एक कितने ही तानेबाने बुनता जा सकता है; लेकिन जब वास्तविक व्यवहार का प्रश्न आता है, तो उसका असली खोखलापन खुले तौर पर आंखों के सामने आ जाता है। यही वजह है कि आदर्शवादी दर्शनवेत्ता को अपने दृष्टिकोण के समर्थन के लिए कोई न कोई सफाई पेश करने पर विवश होना पड़ता है, हालांकि हमारे व्यावहारिक जीवन का प्रत्यक्ष प्रमाण उक्त दृष्टिकोण के अपनाये जाने की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता। और, भारतीय दर्शन में आदर्शवादियों द्वारा पेश की गयी सफाई *संवृति सत्य* या *व्यावहारिक सत्य* का बेसिरपैर का उनका यही सिद्धांत है। इसका मतलब होता है, जैसा कि कुमारिल ने दर्शाया है, "सत्य जो सत्य नहीं है।" निस्संदेह, यह निरी बकवास के सिवा और कुछ नहीं। लेकिन अपनी बुनियादी कमजोरी को छिपाने के लिए आदर्शवादियों के पास शब्दों के इस प्रदर्शन के सिवा और कुछ था भी तो नहीं।

कुमारिल के मूल्यांकन के अनुसार यदि यह सब सीधी-सीधी दार्शनिक धोखाधड़ी से ज्यादा और कुछ नहीं, तो साथ ही यह भौतिकवाद की स्थिति की आधारभूत मजबूती की द्योतक भी है। और इसके साथ ही इसके पीछे—अप्रकट या खुले रूप में—यह दावा भी है कि अमल सच्चाई की कसौटी है। यही दावा हमें आधुनिक भौतिकवादियों की रचनाओं में स्पष्टतः मिलता है। तथापि, इस पुस्तक की विषय-वस्तु आधुनिक भौतिकवाद नहीं, वरन प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय दर्शन का प्रखर भौतिकवाद है। स्वभावतः हमारे सामने प्रश्न उठता है : उस प्राचीन और मध्ययुगीन भौतिकवाद के बारे में वही दावा करना कहां तक वैध होगा जो अन्ततः आदर्शवादी दृष्टिकोण के लिए विध्वंसक सिद्ध हुआ। यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, क्योंकि आदर्शवाद का पूर्णतः विध्वंस किये बिना भौतिकवाद का सचमुच समर्थन कर पाना सम्भव नहीं।

६. चार्वाक/लोकायत और अमल की कसौटी

क्या हमारे पास कोई संकेत है जिसके आधार पर यह कहना वैध होगा कि हमारे प्राचीन भौतिकवादी भी इस तथ्य से परिचित थे? इसका सीधा जवाब देने से पहले, आइए हम एक बात का उल्लेख कर दें जिसका विस्तार से स्पष्टीकरण हम आगे की चर्चा में करना चाहेंगे। अनुसंधान के वर्तमान चरण में इन भौतिकवादियों के बारे में हमारी जानकारी बेहद अधूरी और अपूर्ण है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनकी स्वयं की, अपनी रचनाएं—जो एक समय निश्चय ही अस्तित्वमान थीं—अब लुप्तप्राय हैं। उनके सम्बंध में हम तक जो कुछ पहुंच सका है, वह तीन प्रकार का है। प्रथम, प्राचीन ग्रंथों में जहां-तहां उनका उल्लेख। दूसरा, विभिन्न मतों का प्रतिनिधित्व करने वाले कितने ही

बड़े और छोटे दार्शनिकों की रचनाओं में उनके विचारों का कमोबेश विस्तार से खण्डन। तीसरा, कुछ छन्द, जिन्हें भारतीय दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में "प्रामाणिक लोकप्रिय छन्द" (प्रामाणिक लोकगाथा) कहा जाता है और जो प्राय: उनके द्वारा रचे गये बताये जाते हैं। ये यद्यपि जनता (लोक) में प्रचलित थे, तो भी इन छन्दों (गाथा) के रचयिताओं के नाम ज्ञात नहीं। अज्ञात काल से प्रचलित होने के कारण इन्हें प्रामाणिक भी माना जाता है। आगे चर्चित कारणोंवश हम उपरोक्त तीनों में से अन्तिम को, अर्थात प्रामाणिक लोकगाथा को, प्राचीन भौतिकवादियों के सम्बन्ध में अपनी जानकारी का सबसे महत्वपूर्ण स्रोत मान रहे हैं। शरीर से परे आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति, स्वर्ग और नरक जैसे "पारलौकिक जगत" की मान्यता, और शरीर को छोड़ कर चली गयी आत्मा की तृप्ति के लिए श्राद्ध, आदि, की उपयोगिता जैसे आदर्शवादियों में व्यापक रूप से प्रचलित विचारों पर तीखे व्यंग्य प्रामाणिक लोकगाथा की मुख्य अन्तर्वस्तु हैं।

प्राचीन भौतिकवादियों के बारे में हमारी जानकारी की इस स्थिति को देखते हुए, यहां हम मुख्य रूप से "प्रामाणिक लोकप्रिय छन्दों" पर ध्यान केन्द्रित करेंगे क्योंकि ये ठीक उन्हीं भौतिकवादियों द्वारा रचित माने जाते हैं जिनकी हम चर्चा कर रहे हैं। और, हम यहां देखने की कोशिश करेंगे कि क्या वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि सत्य की असली कसौटी अमल है।

जब हम ऐसा करते हैं, तो हम आसानी से देख सकते हैं कि इस कसौटी की स्वीकृति ही उनके व्यंग्य का मुख्य आधार है। कुछ उदाहरण पेश हैं।

सनातनी ब्राह्मणवादियों का दावा है कि यज्ञ में बलि चढ़ाये गये पशु सीधे स्वर्ग पहुंचते हैं। भौतिकवादी तड़ाक से जवाब देते हैं कि अगर स्वर्ग पहुंचने का ऐसा पक्का और विश्वसनीय रास्ता है, तो फिर यजमान अपने पिता को क्यों स्वर्ग से वंचित रखे है? आदर्शवादी कहते हैं कि मृत्यु के बाद भी आत्मा जीवित रहती है। पुरोहितगण चाहते हैं कि हम यह मान लें कि श्राद्ध में अर्पित भोजन, शरीर छोड़ कर परलोक चली गयी आत्मा की क्षुधा शांत करता है। अगर बात ऐसी है तो पास के गांव जाने वाले को अपने साथ भोजन की सामग्री ले जाने की क्या जरूरत? घर पर इसी प्रकार यात्री के नाम पर अर्पित किया गया भोजन उसकी क्षुधा को मिटाने का कहीं अधिक सरल उपाय होगा। इसी प्रकार और भी।

ऐसे सब छन्दों में विधि एक ही है—विरोधी की स्थिति को मूलत: तर्कों या सैद्धांतिक विचारों के आधार पर परखने के बजाय, उनकी स्थिति को वास्तविक व्यवहार की कसौटी पर परखना। ऐसा करने से, प्रतिद्वन्द्वियों के दावे की निस्सारता फौरन उजागर हो जाती है। इस तरह, हम यद्यपि ठीक-

ठीक नहीं जानते कि इन भौतिकवादियों ने इस तथ्य को शब्दों में सूत्रित किया था नहीं कि व्यवहार ही सत्य की वास्तविक कसौटी है, तो भी इस बात में संदेह की गुंजाइश नहीं कि विरोधियों का खण्डन करने के मामले में वे विशेष तौर पर इसी विधि का इस्तेमाल करते थे।

हम देखते हैं कि, कम से कम अप्रत्यक्ष रूप में, वे अपनी मौलिक प्रस्थापना को सिद्ध करने हेतु इसी कसौटी का इस्तेमाल कर रहे थे—अर्थात्, इस प्रस्थापना को सिद्ध करने हेतु कि सहज और शुद्ध रूप से पदार्थ से निर्मित शरीर से आत्मा अलग चीज नहीं, और फलतः यह सोचना कि शरीर से ऊपर और परे कोई आत्मा है, एकदम अर्थहीन है।

ऐसे दावे के खिलाफ भारतीय दर्शन के इतिहास में तर्कों की शब्दशः भरमार है। इनमें से एक मुख्य तर्क यह है कि पदार्थ के जिन विभिन्न रूपों से यह शरीर निर्मित है वे चेतना-शून्य होते हैं, जबकि यह चेतना ही है जो जीव को संसार की हर दूसरी चीज से भिन्न बनाती है। तब चेतना भौतिक शरीर से अभिन्न कैसे हो सकती है? इसके विरुद्ध भौतिकवादियों ने तर्क दिया कि चेतना स्वयमेव भौतिक शरीर का एक गुण है। लेकिन पदार्थ, जो अपने आप में अचेतन होता है, किस तरह—भौतिकवादियों की धारणा के अनुसार—चेतना का गुण हासिल कर सकता है? इसका भौतिकवादियों के पास बहुत सरल उत्तर था। आपत्ति उठाने वाले का मुख्य सहारा यह मान्यता है कि जो निमित्त में निहित नहीं है वह निष्पत्ति में भी उपस्थित नहीं रहेगा। किन्तु वास्तविक अमल की दृष्टि से इस तरह की मान्यता निराधार है, जैसा कि सुरा जैसे मादक पेय तैयार करने वालों की क्रिया से प्रकट है। शराब जैसे नशीले पेय जिन चीजों से बनते हैं, उनमें से किसी में भी अपने आप नशा उत्पन्न कर देने का गुण नहीं होता। किन्तु वास्तविक व्यवहार में, ये ही चीजें जब मादक पेय में रूपांतरित हो जाती हैं तो उनमें मद-शक्ति आ जाती है। इस तरह यह विचार निरर्थक कतई नहीं कि अचेतन पदार्थ जब एक विचित्र ढंग से रूपांतरित होकर मानव शरीर का रूप धारण करते हैं तो वे अचेतन नहीं रह जाते और शरीर में चेतना का गुण आ जाता है।

लेकिन इस वाद-विवाद के बारे में और अधिक चर्चा बाद में करेंगे।

७. चार्वाक/लोकायत के विरुद्ध प्रचलित घृणा

इस परिचय में हम पारम्परिक दर्शन की सामान्य दार्शनिक परिस्थिति की कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण दूसरी बातों को भी लक्षित करेंगे। भारत में यदि कोई ऐसा दर्शन था जिस पर लगभग सभी तरफ से घृणा बरसायी जा रही थी, तो वह यह अप्रतिबन्ध भौतिकवाद का दर्शन ही था। जैसा कि हम देखेंगे, इसका

जिन नामों से उल्लेख किया गया—जैसे चार्वाक, लोकायत और बार्हस्पत्य—वे भी इसके प्रति तीव्र घृणा पैदा करने के इरादे से गढ़े गये थे। इतना ही नहीं। इस घृणा को न्यायोचित ठहराने के उद्देश्य से, भौतिकवादियों के मुंह से ऐसी स्थितियों का समर्थन करवाया गया जो प्रथम दृष्टि में ही सारहीन थीं। ऐसा इसलिए किया गया ताकि भौतिकवादियों के दर्शन का अस्वीकरण सुगमतर बना दिया जाय। भौतिकवाद के असली दावे के बारे में जिन भरोसेमन्द सबूतों से हम कोई युक्तियुक्त धारणा बना सकते थे, उन्हें प्रायः हद दर्जे तक विकृत कर दिया गया। संक्षेप में, घृणा की बात तो अलग रही, भौतिकवादियों को बहुधा जानबूझ कर गलत रूप में पेश किया गया।

बहुत कर इस वजह से ही, आधुनिक विद्वानों की रचनाओं में हम प्राचीन भौतिकवाद का उड़ता-उड़ता सा जिक्र ही पाते हैं, और वह भी इस ढंग से मानो वह कोई दार्शनिक बदहवासी जैसी चीज रही हो। रीज डेविड्स तो इतिहास में इसके अस्तित्व पर शंका उठाने की हद तक आगे बढ़ जाते हैं। उनका कहना है : यह (भौतिकवाद-अ.) चरम आदर्शवादियों (जैसे शंकर) की कल्पना की उपज भी हो सकता है, जिन्होंने शायद अपनी स्थिति को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए एक सम्भावित भौतिकवादी विकल्प का खण्डन पेश कर देना जरूरी समझा हो। दूसरे लोग इस हद तक आगे बढ़ने के बजाय कि इसे यथार्थ के पटल पर से ही हटा दें, हमसे यह आग्रह करते दिखायी देते हैं हम इसे अतीत का एक अपरिहार्य दुर्भाग्य मान लें : यह दर्शन ऐसा था जो आम जनसमुदाय को गुमराह करना और उच्चतर व उदात्ततर मूल्यों से उसे विमुख करना चाहता था। भारतीय दर्शन पर लिखी पाठ्य-पुस्तकों में आम तौर से, इसे धर्म-विरोधी बताया जाता है जिसमें दार्शनिक महत्व की कोई भी बात नहीं थी।

किन्तु, प्रस्तुत पुस्तक में इसका एकदम भिन्न रूप में मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। यह बात कि भारतीय रूढिवादियों के दृष्टिकोण से यह दर्शन घोर धर्म-विरोधी था, बेशक, एकदम स्पष्ट है। लेकिन यहां जिस बात पर हम जोर देना चाहते हैं वह यह है कि भारतीय इतिहास में तमाम दूसरे विचारों के मुकाबले इसमें कहीं ज्यादा दार्शनिक क्षमता थी। इससे आगे, पुस्तक में यह भी बताया गया है कि प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के तमाम दार्शनिक विचारों की तुलना में इस दर्शन के अपने महत्वपूर्ण आयाम थे—जो, उचित रूप से संवर्धित किये जाने पर, हमारी समसामयिक विचारधारात्मक अपेक्षा पूरी करते हैं। यही कारण है कि यह आवश्यक बन गया है कि थोड़ा विस्तार में जाकर इसकी दार्शनिक मूल अन्तर्वस्तु को उस धूलधक्कड़ से अलग किया जाय, जो इसके परवर्ती निन्दकों ने इस पर बर-

सायी है। यह काम शुरू करने पर, साफ-साफ कई अजीबोगरीब बातें सामने उभरती हैं।

८. चार्वाक/लोकायत तथा कुछ दूसरे दर्शन

भारतीय दर्शन की कुछ अन्य प्रणालियां अपने शब्दों द्वारा तो भौतिकवाद की आलोचना और निन्दा करती हैं, लेकिन असलियत में इसके बहुत से तत्व अपने में समोये हुए हैं, और वह भी अविच्छिन्न अंशों के रूप में। उपरोक्त कथन की व्याख्या में जाने से पहले, हम यहां न्याय दर्शन के—या कहिए, वैशेषिक से उसके समायोजन को ध्यान में रखते हुए न्याय-वैशेषिक दर्शन के—कुछ पहलुओं का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

हम पहले ही यह बता आये हैं कि किस तरह भौतिकवादियों ने, अप्रत्यक्ष रूप में ही सही, इस सिद्धांत को अपना आधार बनाया कि व्यवहार सत्य की असली कसौटी है। किन्तु इसकी औपचारिक अभिव्यक्ति के लिए हमें न्याय-वैशेषिक की ओर दृष्टि घुमानी पड़ती है। दरअसल, वात्स्यायन ने (लगभग चौथी-पांचवीं शताब्दी) न्याय दर्शन की स्रोत पुस्तक (**न्याय-सूत्र**, लगभग दूसरी शताब्दी) पर अपने सुप्रसिद्ध भाष्य का आरंभ इस पुरजोर दावे के साथ किया कि व्यवहार ही सत्य की कसौटी है। यहां इस बात को लक्षित करना दिलचस्प होगा कि ऐसा उन्हें आदर्शवाद के खण्डन के उद्देश्य से करना पड़ा था। आगे विस्तार में जाने पर जैसा कि हम देखेंगे, भारतीय दर्शन में आदर्शवाद जिन विचारों पर फलना-फूलना चाहता था, उनमें से एक विचार यह है कि "ज्ञान का साधन", जिसे भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में **प्रमाण** कहते है, जैसी कोई चीज हो ही नहीं सकती, सिवाय, बेशक, शास्त्रोक्त घोषणाओं के। आम तौर से जिसे "सबूत" अथवा **प्रमाण** कहा जाता है, उसकी यहां कोई वैधता नही। अतएव, साधारण जन जिन्हें संसार के प्रमाणित तथ्य मानते थे, उनमें दरअसल कोई सच्चाई नहीं थी। ठीक इसी स्थिति के विरुद्ध वात्स्यायन का तर्क लक्षित था। इसलिए, उन्हें जो पहली चीज स्थापित करनी थी, वह ज्ञान के साधनों की वैधता स्थापित करने का एक तरीका था। और यह तरीका था व्यवहार की कसौटी : मरीचिका में जो जल दिखायी देता है, वह अवास्तविक अथवा असत्य है क्योंकि व्यवहार में वह प्यास नहीं बुझाता, लेकिन जलाशय मे दिखायी देने वाला जल प्यास बुझाता है इसलिए वह सत्य प्रमाणित होता है। इसलिए मरीचिका के जल और जलाशय के जल की स्थिति एक जैसी, जैसा कि आदर्शवादी हमसे मानने का आग्रह करते हैं, नहीं होती। इसलिए, जो ज्ञान व्यवहार की कसौटी पर खरा उतरे उसे वैध मानना होगा।

यह ऐसी बात थी जिसको स्वीकृत कराने के बारे में भौतिकवादी, हालांकि अपने ही ढंग से, दरअसल बहुत उत्सुक थे।

लेकिन आइए, अब हम एक दूसरे मुद्दे को लें जो हालांकि बहुत विवादास्पद है तो भी असामान्य महत्व का सिद्ध हो सकता है। यह सही ज्ञान के स्रोतों के रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान (perception) और अनुमिति के बारे में है। भारतीय दर्शन में भौतिकवाद के अधिकांश आलोचकों ने संभवत: तरह-तरह के तरीकों से यह दिखाने का प्रयास किया है कि भौतिकवादी लोग अनुमिति को पूर्णत: अस्वीकार करते थे—वे प्रत्यक्ष बोध को, और एकमात्र प्रत्यक्ष बोध को ही, ज्ञान का सही स्रोत मानते थे। भौतिकवादियों की स्थिति को इस रूप में पेश करने से उन्हें लाभ यह था कि इससे भौतिकवादियों की ज्ञान की परिधि का क्षेत्र सीमित हो जाता था और गम्भीर दार्शनिक बहस के अधिकार से वे वंचित किये जा सकते थे, क्योंकि अनुमिति को एकदम त्याग देने पर गम्भीर दार्शनिक चिन्तन की बात सोची तक नहीं जा सकती। तथापि, अपने अध्ययन में गम्भीर सबूतों—प्रत्यक्ष और पारिस्थितिक दोनों ही किस्म के सबूतों—के आधार पर हमने दर्शाने का प्रयत्न किया है कि अनुमिति को पूर्णत: ठुकरा देने का भौतिकवादियों पर लगाया गया आरोप उनका मखौल उड़ाने का दूसरा तरीका मात्र था। भौतिकवादियों की वास्तविक स्थिति दरअसल इससे बिलकुल भिन्न थी। इसमें संदेह नहीं कि प्रत्यक्ष बोध पर वे अधिकतम बल देते थे। लेकिन अनुमिति को एकदम अस्वीकार कर देने की उनको न तो जरूरत थी और न ऐसा करने का उनका इरादा था। उन्हें आपत्ति थी धोखाधड़ी वाली अनुमिति से। अनुमिति तब एक छलावा बन जाती है जब वह शरीर से परे आत्मा को सिद्ध करने का, स्वर्ग और नरक जैसे दूसरे लोक के अस्तित्व का और पुरोहितों द्वारा कराये जाने वाले कर्मकाण्डों की कारगरता का लम्बा-चौड़ा दावा करती है। ऐसी अनुमिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष बोध द्वारा सुपरिभाषित स्पष्ट ज्ञान की परिधि का अतिक्रमण करती है। इसके साथ ही, इन भौतिकवादियों को वैध अनुमिति के प्रति कोई आपत्ति नहीं थी, अर्थात ऐसी अनुमिति के प्रति जो प्रत्यक्ष ज्ञान के दिखाये मार्ग पर आगे बढ़ती हो; या, ज्यादा सहज रूप में कहा जाय तो, जो प्रत्यक्ष ज्ञान को पूर्वाधार मानती हो। इस प्रकार, 'जहां धुआं होगा वहां अग्नि होगी' जैसी प्रतिदिन की अनुमिति के खिलाफ उन्हें कोई एतराज नहीं था क्योंकि आम तौर पर यही देखा गया था कि जहां धुआं होता है वहां आग होती है। लेकिन भौतिकवादी परलोक को सिद्ध करने का दिखावा करने वाली अनुमिति के कट्टर विरोधी थे—परलोक की बातों का प्रत्यक्ष बोध से दूर का भी सम्बंध नहीं था और फलत: वे महज कल्पित थीं।

उक्त तथ्य को स्थापित करने के लिए हमें इस पुस्तक में काफी विस्तार में जाना पड़ा है। कारण यह कि भौतिकवादियों के विरुद्ध सदियों से जारी प्रचार ने इस मान्यता को सामान्य भारतीय दार्शनिक समझदारी का एक अंग बना दिया है कि हमारे प्राचीन भौतिकवादी अनुमिति की वैधता को पूर्णतः अस्वीकार करते थे। लेकिन भौतिक कूड़ा-कचरा हटा दिये जाने पर प्रत्यक्ष बोध और अनुमिति के सम्बंध में उनकी वास्तविक समझदारी एक नयी रोशनी में हमारे सामने आती है। जिस एक बात पर आधुनिक विद्वानों ने सबसे कम जोर दिया है वह यह कि प्रत्यक्ष बोध और अनुमिति के प्रति दृष्टिकोण को सही ढंग से पुनर्स्थापित कर देने पर वास्तविक भौतिकवादी स्थिति न्याय-वैशेषिकों की स्थिति के एकदम समतुल्य नहीं तो, अत्यधिक नजदीक प्रतीत होती है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, न्याय-वैशेषिक की स्रोत-पुस्तक अनुमिति की अपनी परिभाषा में ही यह दावा करती है कि अनुमिति को प्रत्यक्ष दिखायी देने वाली चीजों पर आधारित होना चाहिए, या कि किसी भी सच्ची अनुमिति की एक अनिवार्य पूर्वशर्त उसका प्रत्यक्ष बोध पर आधारित होना है।

प्रस्तुत पुस्तक में हमने दर्शाने का प्रयास किया है कि कुछ दूसरी बातों में भी न्याय-वैशेषिक दर्शन एक ऐसी स्थिति का प्रतिनिधित्व करता था जो भौतिकवादियों की स्थिति के बहुत नजदीक थी। इस तरह का दावा संभवतः उन अधिकांश पाठकों को दम्भपूर्ण और यहां तक कि थोथा प्रतीत होगा जिन्हें भारतीय दर्शन की लगातार एक दूसरी ही कहानी सुनायी गयी है। कोई भला कैसे—निम्नलिखित सुप्रकट तथ्यों को देखते हुए—भौतिकवाद और न्याय-वैशेषिक दर्शन में समरूपता की बात कह सकता है? भौतिकवाद जो शास्त्रग्रन्थों को मनगढ़ंत कह कर मुंह चिढ़ाता था, ठेठ धर्म-विरोध के सिवा और कुछ नहीं था; यदि वह आत्मा और परलोक का निषेध नहीं था तो और कुछ नहीं था; यदि वह पुरोहितों द्वारा निर्दिष्ट कर्मकाण्डों पर कटु व्यंग्य नहीं था, तो और कुछ नहीं था, आदि-आदि। इसके विपरीत, न्याय-वैशेषिक धर्मशास्त्रों के वचनों का पूरी तरह अनुमोदन करता था, आत्मा को, और मृत्यु के बाद उसकी उत्तर-जीविता को सिद्ध करने के लिए विस्तार से तर्क प्रस्तुत करता था, पुरोहितों के बताये कर्मकण्डों का समर्थन करता था, मोक्ष अर्थात इहलौकिक बन्धनों से छुटकारे को परम लक्ष्य बताता था, आदि-आदि। दरअसल, उस दर्शन में इन लक्षणों की अच्छी-खासी मौजूदगी की वजह से रूढ़िवादी मानदण्डों के अनुरूप सहज ही उसे एक पवित्र दर्शन मान बैठा जाता है। इसके अलावा, यह तथ्य अपनी जगह कायम है कि न्याय-वैशेषिक के कुछ परवर्ती प्रतिनिधियों ने ठेठ भौतिकवाद के कुछ अनिवार्य लक्षणों के खण्डन के लिए विशेष रूप से परिश्रम

किया और इस काम में बड़ी तत्परता दिखायी। न्याय-वैशेषिक के मूलाधारों और ठेठ भौतिकवाद के मूलाधारों को एक ही बताने का प्रयास बेहूदगी भरा लग सकता है। किन्तु, प्रस्तुत पुस्तक में हमने कुछ ऐसे प्रश्न उठाने का प्रयत्न किया है जो आम तौर से उठाये ही नहीं जाते। न्याय-वैशेषिक सम्बंधी जो साहित्य हमें उपलब्ध है, उसमें शास्त्रों, आत्मा, मृत्योपरान्त जीवन, मोक्ष, आदि के बारे में, जिनकी भौतिकवादी बड़ी खिल्ली उड़ाते थे, प्रकटतः बड़ा उत्साह दिखाया गया है। तो भी, यह प्रश्न अपनी जगह कायम रहता है कि ये सब किस हद तक न्याय-वैशेषिक के अविच्छिन्न पहलू थे, अथवा इन सब अतीन्द्रिय धारणाओं के प्रति यह दर्शन कहां तक गम्भीर था। मूल पाठ के आलोचनात्मक विश्लेषण ने हमें एक असामान्य—और निश्चय ही अनपेक्षित—उत्तर पर पहुंचाया है। ये सब उस दर्शन के अविच्छिन्न अंग नहीं थे और स्वयं न्याय-वैशेषिक साहित्य में इस बात के सूक्ष्म और चतुराई भरे संकेत मौजूद हैं कि इन सब को गम्भीरता से नहीं लिया जाना है। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि मेरे इस कथन से दार्शनिक जगत में कितना बड़ा तूफान उठ खड़ा हो सकता है। किन्तु हमारे पाठक उसके शिकार हों इससे पहले क्या मैं इन पाठकों से यह आशा नहीं कर सकता कि वे इस पुस्तक को पढ़ जायें ताकि वे वस्तुनिष्ठ रूप से खुद फैसला कर सकें कि इस कथन में, फिर यह कितना ही असामान्य क्यों न लग रहा हो, सचमुच कोई तत्व है अथवा नहीं?

तो भी, यह तथ्य बरकरार है कि ऊपर जिन बातों का जिक्र किया गया है—जैसे शास्त्रोक्त बातों का समर्थन, आत्मा और मृत्यु के बाद उसकी उत्तरजीविता, आदि—न्याय-वैशेषिक दर्शन की स्रोत-पुस्तकों में यदि मौजूद हैं तो हम इस बात की सफाई कैसे पेश कर सकते हैं कि मूल पाठों में इन बातों के मौजूद रहते भी, न्याय-वैशेषिक दर्शनवेत्ता इनके प्रति वास्तव में गम्भीर नहीं थे? प्रश्न निश्चय ही फैसलाकुन है, हालांकि दार्शनिक साहित्य की कठोर सीमाओं के भीतर इसका उत्तर खोजने का प्रयास करना निरर्थक होगा। इस पुस्तक में जैसा कि दर्शाने का प्रयास किया गया है, इस बात को जानने के लिए कि क्यों कितने ही दार्शनिक उक्त बातों के प्रति सचमुच गम्भीर हुए बिना भी उन्हें मानने का दिखावा करते थे, हमें दर्शनशास्त्र से—उसके सीमित अर्थों में—बाहर जाना होगा।

६. दर्शन और राजनीति

तो यहां "दर्शन से बाहर" से तात्पर्य क्या है? एक शब्द में इससे तात्पर्य है—"राजनीति"। यह एक ऐसी बात है जिसे भारतीय दर्शन के सामान्य लेखकों ने कम ही लक्षित किया है। और यह भी तब, जब भारतीय संस्कृति

के प्रति "समग्रतावादी दृष्टिकोण" की बड़ी-बड़ी बातें कही जा रही हैं। समग्रतावादी दृष्टिकोण अपनाने का मतलब यह है कि भारतीय संस्कृति के किसी भी पहलू को दूसरे पहलुओं से अलग-अलग करके न देखा जाय, अथवा यह कि भारतीय संस्कृति के प्रति एक समेकित दृष्टिकोण—सभी पहलुओं को समेकित करने वाला दृष्टिकोण—ही सही दृष्टिकोण होगा। तो भी जैसे ही राजनीति का हवाला दिया जाता है, भौंहें तन जाती हैं मानो दर्शन की बातचीत करते समय राजनीति का प्रश्न उठाना खास तौर से अवांछनीय हो।

लेकिन वास्तविक तथ्य खुले तौर पर सामने हैं। पारंपरिक भारतीय राजनीति के प्रवक्ता सर्वोपरि विधि-निर्माता थे। उनकी रचनाओं को खास तौर से धर्मशास्त्र कहा जाता है। इन विधि-निर्माताओं को जिस चीज से बुनियादी सरोकार था वह, निस्संदेह, उस सामाजिक ढांचे की सुरक्षा करना था जिसे वे आदर्श मानते थे। ऐसा सामाजिक ढांचा वर्णाश्रम व्यवस्था नाम से प्रचलित था। इससे तात्पर्य एक ऐसे समाज से है जिसमें प्रत्येक स्त्री या पुरुष का आचरण उसकी जाति से और आयु के उसके चरण से निर्दिष्ट होता है। किन्तु ठोस रूप में, यह एक ऐसे सामाजिक मानदण्ड का समर्थन था जिसमें आबादी के अल्पसंख्यक भाग को—जिसमें उच्चवर्गीय लोग, पुरोहित और व्यापारी आते थे (सामूहिक रूप से जिन्हें द्विज की संज्ञा दी गयी)—सभी भौतिक सुविधाओं का, यद्यपि विविध अंशों में, विशेषाधिकार प्राप्त था। बाकी जनसंख्या को, जिससे तात्पर्य प्रत्यक्ष उत्पादकों से है, और जिनके अधिशेष उत्पादों के अधिग्रहण से ही द्विज कहे जाने वालों की भौतिक सुविधाओं का निर्माण हो सकता था, शूद्रों की सामान्य कोटि में पटक दिया गया। और, ये विधि-निर्माता इस बात पर अडिग थे कि उक्त प्रत्यक्ष उत्पादकों को उससे अधिक और कुछ प्राप्त करने का अधिकार नहीं जो उन्हें मात्र जीवित रखने के लिए अनिवार्य हो। उनका एकमात्र कर्तव्य समाज के उच्चतर वर्ग की सेवा करना था, क्योंकि स्रष्टा ने इस विशेष प्रयोजन के लिए ही उनकी सृष्टि की थी।

यह है पारंपरिक भारतीय विधि-निर्माताओं के राजनीतिक सिद्धांत के मूल बिन्दु की मोटी रूपरेखा, और ये ही लोग प्राचीन भारतीय राजनीति के सर्वाधिक अधिकृत प्रणेता थे। उनका आदर्श समाज कहां तक वास्तविकता से मेल खाता था, यह, बेशक, अलग बात है। लेकिन तथ्य यह है कि इस राजनीतिक दर्शन के आधारभूत बिन्दु विधि-निर्माताओं के दिमाग में गहरी जड़ें जमाये थे। विधि-निर्माताओं के रूप में वे महसूस करते थे कि अपने सामाजिक मानदण्ड की रक्षा के लिए उन्हें न केवल जनता के वास्तविक आचरण के तौर-तरीकों के बारे में, बल्कि उसके सोचने के तरीकों के बारे में भी साफ-साफ निर्देश जारी करने होंगे : जनता के सोचने के कुछ तरीके उसे नियंत्रण में रखने की

दृष्टि से उपयुक्त थे, जबकि दूसरे तरीके अपनाने पर जनता द्वारा अप्रिय प्रश्न उठाये जाने का खतरा था ! इसीलिए, विधि-नियामकों ने पहले तरीकों के पक्ष में और दूसरे तरीकों के विरुद्ध फरमान जारी किये। इन पहले तरीकों में धर्मशास्त्रों की सत्ता के सामने पूर्ण समर्पण, आत्मा और परलोक में विश्वास, आदि, शामिल थे। स्वभावतः ही, कट्टर भौतिकवादी उनके हमलों का मुख्य निशाना बने—और कभी-कभी तो यह मानना पड़ता है कि इन भौतिकवादियों की वास्तविक रचनाएं हमें उपलब्ध न हो पाने का एक कारण यह भी रहा हो सकता है। जो भी हो, भौतिकवाद से कोई भी खुला और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बंध प्राचीन भारत में गम्भीर राजनीतिक खतरा मोल लेने के समान था, क्योंकि विधि-नियामकों की दृष्टि में समस्त दर्शनों में भौतिकवादी दर्शन ही सर्वाधिक विध्वंसकारी था। इस दृष्टि से न्याय-वैशेषिकों की मूल स्थिति विशेष रूप से नाजुक थी। उक्त राजनीतिज्ञों का राजनीतिक दर्शन, अन्ततः, अपनी संस्वीकृति उन सबसे ही प्राप्त करता था जिन्हें वे धर्मशास्त्रीय घोषणाएं कहते थे। फलतः ये लोग कोई भी तर्क प्रस्तुत किये जाने के विरुद्ध थे—जब तक कि ये तर्क धर्मशास्त्रों में कही गयी बातों को युक्तियुक्त ठहराने के लिए ही न हों। लेकिन न्याय-वैशेषिकों के सामने समस्या उपस्थित थी कि आखिर कैसे वे अपनी तर्क-प्रणाली को बरकरार रखें। इससे भी ज्यादा खतरा, स्वभावतः, उनके परमाणुवाद के लिए था जो भौतिकवाद के ही एक स्वरूप के सिवा दूसरा कुछ हो नहीं सकता था। तर्कसंगति और परमाणुवाद के विरुद्ध प्राचीन भारत में जो क्रोधपूर्ण वातावरण व्याप्त था, वह सुविदित है। इसलिए, न्याय-वैशेषिक दर्शन के संस्थापकों के सामने एक विशेष समस्या यह उपस्थित थी कि किस तरह विधि-नियामकों के दंड से अपना बचाव करके तर्कसंगति और परमाणुवाद की बात कही जा सके। इसके लिए उन्होंने यह उपाय ईजाद किया कि राजनीतिज्ञों की विचारधारात्मक अपेक्षाओं की भारी पैमाने पर तुष्टि करके अपनी रक्षा की जाय। उन्होंने धर्मशास्त्रों की सर्वशक्तिमत्ता के अमोघ होने की जोरशोर से घोषणा की, आत्मा और उसकी मुक्ति में विश्वास का स्वांग रचा, परलोक के अस्तित्व का, और सर्वोपरि, श्राद्ध आदि के लिए पुरोहितों के निर्देशों की प्रशंसा का, दिखावा किया। इन सब बातों का तर्कसंगति और परमाणुवाद से—जो कि न्याय-वैशेषिकों के दर्शन की असली अन्तर्वस्तु है—कोई अन्तर्भूत संबंध है, यह निश्चय ही एक अलग प्रश्न था जिसमें वे नहीं उलझना चाहते थे। उनके लिए सबसे ज्यादा जरूरी था विधि-नियामकों के कोप से, उनकी सेंसरशिप से, बच निकलना—फिर उनके दार्शनिक मूलाधारों के स्वयं जो भी तकाजे रहे हों। इस तरह, इस पुस्तक में बताने का प्रयत्न किया गया है कि क्यों, भौतिकवादियों के दृष्टिकोण को प्रायः अपनाते हुए और बहुधा

ऐसे विचारों को मुखर करते हुए भी जो भौतिकवादियों के विचारों से खतरनाक हद तक मेल खाते थे, न्याय-वैशेषिक दर्शन के संस्थापकों ने अपने दर्शन पर ऐसे विचारधारात्मक लक्षणों के अनेक पैबन्द लगाये जो विधि-निर्माताओं के लिए अत्यंत तुष्टिकारक थे। यह था अपने दार्शनिक मूलाधारों के —हालांकि गम्भीर खतरा उठाते हुए—संरक्षण का एक तरीका। इस दर्शन के बाद वाले प्रतिनिधियों की नजर में ये बाहर से थोपे गये कारक एक किस्म से उनकी समझदारी के अंग बन गये और फलतः अच्छे-खासे जोश के साथ वे इनका समर्थन करने लगे। लेकिन अप्रतिबन्ध भौतिकवादियों ने, जिनकी चर्चा मुख्यतः इस पुस्तक में की गयी है, राजनीतिज्ञों की अपेक्षाओं की तुष्टि करने की कतई परवाह नहीं की—और इसकी उन्हें सजा भुगतनी पड़ी। धर्म-विरोधी कह कर उन्हें खदेड़ा गया, कल्पनीय और अकल्पनीय सभी तरीकों से उन्हें बदनाम किया गया, उनकी मूल रचनाएं पहचानी न जा सकने की हद तक विकृत की गयीं, सभ्य समाज से इन लोगों को मार भगाया गया और उनकी रचनाओं का प्रसारण वर्जित कर दिया गया। तो भी उनके मौलिक दृष्टिकोण के रूप में जो कुछ हम तक पहुंच सका है—फिर वह कितना ही छिन्न-विच्छिन्न क्यों न हो—उसमें, उनके विरोधियों की तुलना में, कहीं अधिक वैज्ञानिक सक्षमता दिखायी देती है।

१०. दर्शन और प्रकृति-विज्ञान

यह चीज हमें एक दूसरे मुद्दे पर ले आती है। यह मुद्दा उस भव्य सम्भावना से सम्बंधित है जिसको सामने रखते हुए प्राचीन भारत में प्रकृति-विज्ञान ने अपना कार्य आरम्भ किया। सैद्धांतिक रूप से देखा जाय तो इसका सूत्रपात एक बड़ी हद तक उन्हीं मूलाधारों से हुआ जिनका समर्थन हमारे अप्रतिबन्ध भौतिकवादी बड़े साहस के साथ कर रहे थे। यही एक मुख्य कारण मालूम होता है कि क्यों इन भौतिकवादियों की आधारभूत रचनाएं हम तक इतनी अजीबोगरीब शक्ल में पहुंची हैं, यानी एक ऐसे रूप में जिसमें विज्ञान और विज्ञान-विरोध विचित्र रूप से एक-दूसरे में गड्डमड्ड हैं। इसकी वजह, जैसा कि हम इस पुस्तक में दिखायेंगे, यह है कि प्रकृति-विज्ञान के प्रणेताओं ने भी वही तरकीब अपनायी जिसे इस्तेमाल करने की न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों ने कोशिश की थी। अपने सैद्धांतिक मूलाधारों के कारण विधि-निर्माताओं को जिस गहरी शत्रुता का सामना करना पड़ रहा था, उसे देखते हुए प्रकृति-विज्ञान के प्रणेताओं ने इन विधि-निर्माताओं के विचारधारात्मक तकाजों को स्वीकार करने का दिखावा करना ही उचित समझा। तो भी, आज हमारे लिए यह सम्भव हो गया है कि प्रकृति-वैज्ञानिकों की जो मूल सैद्धां-

तिक स्थिति थी उसमें तथा अन्धविश्वासों के कचरे का उस पर जो ढेर लगाया गया उसमें—स्पष्ट रूप से अन्तर कर सकें। और, सौभाग्य से, उनकी जो रचनाएं हम तक पहुंची हैं उनसे बाहर जाये बिना ही, ऐसा करना सम्भव है। दूसरे शब्दों में, इन रचनाओं के पाठों में उन सिद्धांतों के पर्याप्त संकेत बच रहे हैं जो उनकी मूल वैज्ञानिक अन्तर्वस्तु की पहचान कराने में हमारी मदद करते हैं।

इन संकेतों पर जब हम आगे बढ़ते और इन पाठों की मूल वैज्ञानिक अन्तर्वस्तु को उबार कर सामने लाते हैं, तो भौतिकवादी स्थिति से इनकी सादृश्यता हमें चकित किये बिना नहीं रहती। इससे हमें अपने प्राचीन भौतिकवादियों के योगदान के एक अन्य महत्वपूर्ण आयाम को देखने व समझने में मदद मिलती है। अर्थात्, हमें यह देखने व समझने मे मदद मिलती है कि भौतिकवादी स्थिति ने प्रकृति-विज्ञान की वास्तविक प्रस्थापना को कितना अधिक पोषित किया था।

हमें अपने इस परिचयात्मक आलेख में अब सिर्फ एक बात और जोड़नी है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य प्राचीन भौतिकवाद के खण्डित अवशेषों से उसके मूलभूत लक्षणों को पुनर्निर्मित करना मात्र नहीं है, वरन् उस भौतिकवाद का समर्थन करना भी है। किन्तु ऐसे समर्थन के बारे में गलतफहमी नहीं पैदा हो जानी चाहिए। यह भौतिकवाद आखिर एक प्राचीन समाज की उपज था। प्रस्तुत अध्ययन में हमारा प्रयत्न उसकी ओर मुड़ कर देखना और उसकी महती सैद्धांतिक क्षमताओं को उबारना है, लेकिन हमारा प्रयोजन उस पर लौट जाना नहीं है। हमारे समकालीन ज्ञान की तुलना में विशेषकर ऐतिहासिक रूप से उसे कमोबेश अल्पविकसित होना ही था, भले ही प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में उसकी भूमिका कितनी ही क्रान्तिकारी क्यों न रही हो। किन्तु उस पर लौट जाने की तनिक भी उत्सुकता अनर्थकारी होगी।

तो भी, समान रूप से अनर्थकारी होगा उसके ऐतिहासिक महत्व को अनदेखा करना या उसकी उपेक्षा करना। ये प्राचीन मनीषी—आप इन्हें चाहे चार्वाक, लोकायत या बार्हस्पत्य कहें, जैसे कि एक के बाद एक ये कहे भी गये हैं—उन प्रथम विचारकों में से थे जिन्होंने साहस के साथ भौतिकवादी दृष्टिकोण के द्वार उद्घाटित किये। और, ऐसा उन्होंने जो भी साधन उस समय उन्हें उपलब्ध थे, उससे ही किया। निश्चय ही, मानव प्रगति के इतिहास में यह एक अपूर्व चरण था। समसामयिक ज्ञान से इसे समृद्ध करने के बाद पुनर्व्यवस्थित कर दिये जाने पर, यह भौतिकवादी दृष्टिकोण आज गुलामी, अर्धदासता और औपनिवेशिक उत्पीड़न की बेड़ियों से श्रमिक जनों की मुक्ति के लिए एक प्रभावी अस्त्र का काम दे रहा है। संसार का एक

बहुत बड़ा भाग अभी ही इन बेड़ियों से मुक्त किया जा चुका है और शेष संसार के मेहनतकश इस मुक्ति की ओर आगे बढ़ रहे हैं। कभी जो एक छोटा-सा अंगारा था—यह प्राचीन भौतिकवाद—वह बढ़ कर दावानल बन गया है तथा और भी वेग धारण करता हुआ मानव प्रगति के मार्ग को रोकने वाले तमाम अवरोधों को जला कर भस्म करता आगे बढ़ रहा है। इस दृष्टि से, जिन लोगों ने अत्यंत विरोधपूर्ण परिस्थितियों के अन्तर्गत वह पहला अंगारा धधकाने का साहस किया था वे विलक्षण चिन्तकों के रूप में सम्मानित किये जाने के अधिकारी हैं। इतिहास ने हमें उनके दृष्टिकोण को ऊंचे तथा और भी ऊंचे स्तर पर ले जाने का दायित्व सौंपा है। और इस दायित्व को पूरा करने का बीड़ा वास्तव में समाजवादी जगत के दर्शनवेत्ताओं तथा दूसरी जगहों के उनके सहकर्मियों ने उठा लिया है।

दूसरा अध्याय

चार्वाक/लोकायत दर्शन की समस्याएं

१. नामकरण अथवा निन्दाकरण

प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में अप्रतिबन्ध भौतिकवाद का तीन वैकल्पिक नामों से उल्लेख मिलता है। ये नाम हैं—चार्वाक, लोकायत और बार्हस्पत्य। इन तीनों में पहला नाम इन दिनों सबसे ज्यादा प्रचलित है, और आखिरी नाम तुलनात्मक दृष्टि से, अधिक पांडित्यपूर्ण संदर्भों तक सीमित है।

किन्तु, एक बात जो तत्काल ध्यान दिये जाने की है वह यह कि ये तीनों नाम यद्यपि व्यक्तिवाचक हैं, तथापि इनमें से कोई भी अर्थहीन नहीं है। इसके विपरीत, प्रत्येक नाम का उद्देश्य किसी निश्चित अर्थ का बोध कराना है। जब हम इन अभिप्रेत अर्थों का विश्लेषण करते हैं, तो एक बात साफ-साफ उभर कर सामने आती है। इन अध्यारोपित अर्थों में पहले से ही इस दर्शन को अपमानित या अवमानित करने की भावना निहित है, ताकि हम इस दर्शन से दूर-दूर ही रहें।

आइए हम सबसे पहले चार्वाक नाम पर विचार करें जो इन दिनों सर्वाधिक प्रचलित है। मुख्य रूप से इसके दो अर्थ सुझाये जाते हैं। पहला : इस शब्द की उत्पत्ति चारु+वाक् से हुई है, जिनमें से चारु का अर्थ है 'आकर्षक' या 'सुन्दर' और दूसरे का 'शब्द'। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाता है तो, मोटे तौर से, चार्वाक का अर्थ होना चाहिए मिष्ठभाषी यानी 'मीठा बोलने वाला'। दूसरा : कहा जाता है कि इस शब्द की उत्पति चर्व से हुई है, जिसका शाब्दिक मतलब है 'चर्वण करना', 'चबाना' या 'खाना'। यदि इसे स्वीकार किया जाता है, तो चार्वाक से आभास होना चाहिए ऐसे व्यक्ति का जिसके लिए खाना-पीना ही जीवन का परम लक्ष्य है। इसका निहितार्थ यह है कि जीवन के उच्चतर मूल्यों में उसकी कतई कोई रुचि नहीं। ठीक इसी दृष्टिबिन्दु से भारतीय दर्शन में चार्वाक मतावलम्बियों को आम तौर से चरम सुखभोगवादियों की संज्ञा दी गयी है।

विशुद्ध व्याकरण की दृष्टि से, ऊपर सुझाई गयी दोनों व्युत्पत्तियों में से कोई भी कसौटी पर खरी नहीं उतरती। चारु+वाक् से चारुवाक् या कम से

कम चार्वाक् तो बन सकता है किन्तु चार्वाक नहीं, जबकि तथ्य यह है कि हमारे दार्शनिक साहित्य में सदा ही चार्वाक शब्द मिलता है, न कि चार्वाक् । न ही, व्याकरण की दृष्टि से, वास्तव में चार्वाक की व्युत्पत्ति चर्व धातु से हो सकती है । चर्व धातु से तो हमें चर्वक या चर्वाक प्राप्त हो सकता है, न कि चार्वाक जिसमें च ह्रस्व नहीं बल्कि दीर्घ है । लेकिन, हमें सर्वत्र चार्वाक शब्द पढ़ने को मिलता है, जिसमें च सदा दीर्घ है ।

हमारा उद्देश्य यहां व्याकरण की बारीकियों की भूल-भुलैया में भटकना नहीं है । तो भी, जो शंका उठायी गयी है, वह महत्वहीन नहीं । व्याकरण को आप साक्षी बनाइए या न बनाइए, जो अर्थ सुझाये गये हैं वे निष्प्रयोजन नहीं हैं । सीधे शब्दों में, प्रयोजन केवल निन्दा करना है । 'मीठा बोलने वाला' शब्दों मे प्रशंसा निहित नहीं है । चार्वाक (अथवा, इस भौतिकवादी दर्शन के अनुयायी) से आशय यह संकेत करना है कि जो कुछ यह दर्शन सिखाता है वह ऊपरी तौर से ही आकर्षक है । सो, क्या सिखाता है यह दर्शन ? खाओ, पियो और मौज करो—सदाचार और दुराचार अथवा स्वर्ग और नरक सम्बंधी प्रश्नों को भाड़ में जाने दो ! अज्ञानी जनसमुदाय को सिर्फ यही तो चाहिए । अतः, इस दर्शन से प्रज्ञा-हीन पुरुषों और स्त्रियों को अपने कार्यों को न्यायोचित ठहराने में, या अधिक स्पष्ट रूप से, अपनी दुष्प्रवृत्तियों को न्यायोचित ठहराने में सुविधा होती है ! यही इस बात का कारण बताया जाता है कि चार्वाक दृष्टि-कोण लोगों को लुभावना अथवा आकर्षक लगता है, फिर मानवीय अस्तित्व के उच्चतर मूल्यों की दृष्टि से वास्तव में यह कितना ही घृणास्पद क्यों न हो । यही अभिप्राय ज्यादा खुले रूप में मौजूद है इस शब्द की व्युत्पत्ति चर्व—'चबाने', 'खाने'—धातु से बताने में । यानी, यह दर्शन जीवन के उदात्ततर आदर्शों के प्रति नितांत उदासीन है, जैसा कि कथित रूप से इसके नाम में व्यञ्जित अतिभोजन और भक्षण के लक्षण में निहित है ।

इस तरह, इस नाम की दोनों व्युत्पत्तियां निरुक्ति-सम्बंधी बाजीगरी हैं । और इस बाजीगरी का एकमात्र उद्देश्य है—निन्दाकरण । प्रसंगवश, भौतिक-वाद की इस तरह निन्दा कोई अनोखी भारतीय विशेषता नहीं । हमें स्मरण हो आता है एंगेल्स के इस उल्लेख का कि "भौतिकवाद शब्द के प्रति परम्परागत अविवेकी पूर्वाग्रह पादरियों द्वारा इसकी सुदीर्घ काल तक जारी रखी गयी निन्दा का परिणाम है । विवेकहीन व्यक्ति भौतिकवाद शब्द का अर्थ लगाता है पेटूपन, मदांधता, आंखों की प्यास बुझाना, मनमाना इंद्रिय भोग करना, अंहकार, लिप्सा, तृष्णा, लोभ, मुनाफाखोरी और धृष्टतापूर्ण सट्टेबाजी—संक्षेप में, वे सभी दुर्गुण जिनमें वह गुप्त रूप से स्वयं खूब रस लेता और डूबता-उतराता

रहता है। आदर्शवाद से उसे बोध होता है सदाचार का, सार्विक कल्याण का और प्रायः एक 'बेहतर संसार' में आस्था का, जिसकी वह दूसरों के सामने तो डींग हांकना है लेकिन जिसमें उसे केवल तब तक विश्वास रहता है जब तक उसकी हालत खस्ता रहती है या वह प्रचलित 'भौतिकवादी' अतिरेकों से जनित दिवालियापन के दौर से गुजर रहा होता है। ऐसे मौकों पर ही वह खुद को प्यारा लगने वाला यह राग अलापता है :

'देख तेरे इन्सान की हालत क्या हो गयी भगवान;
बस आधा रह गया फरिश्ता, आधा है हैवान।' "

सो, जहा तक भौतिकवाद को बदनाम करने की बात है, भारतीय दर्शन की यह कोई अजूबा बात नहीं। दरअसल, यह ऐसा बिन्दु है जिस पर 'दर्शन-शास्त्र : पूर्वी और पश्चिमी' एकदम सहमत हैं। इसमें भारतीय दर्शन को प्रभिन्नता प्रदान करने वाली चीज सभवतः भौतिकवाद के लिए स्वयं चार्वाक नाम की कूटरचना या कम से कम इसके ऐसे अर्थ की कूटरचना है जिससे इसके प्रति घृणा का भाव स्पष्टतः निहित रहे।

मैंने जानबूझ कर कूटरचना शब्द का प्रयोग किया है। भारतीय दर्शन-शास्त्र मे, हम शीघ्र ही जैसा कि देखेंगे, भौतिकवादी दर्शन के सूत्र अत्यंत प्राचीन काल में पाये जा सकते हैं—उपनिषदकाल तक मे, जिसका समय मोटे तौर से ईसा पूर्व छठी या सातवीं शताब्दी निर्धारित किया गया है। तथापि, दार्शनिक साहित्य में चार्वाक नाम का सर्वप्रथम उल्लेख अपेक्षाकृत बहुत बाद मे मिलता है। महाभारत को छोड़, जिसमें हम चार्वाक नामक दैत्य के बारे मे पढ़ते हैं, इस नाम का मैं स्वयं जो सबसे पहला उल्लेख खोज पाया वह शांतरक्षित के बृहद ग्रंथ तत्त्वसंग्रह की कमलशील रचित मीमांसा (पंजिका) मे है। शांतरक्षित, जो बौद्ध मतावलम्बी और आदर्शवाद के परवर्ती रूप के प्रचारक थे, आठवी सदी मे किसी समय तिब्बत पहुंचे थे, जहां उनके पीछे-पीछे उनके शिष्य,मीमांसक, कमलशील भी पहुंचे और वहां दोनों की मृत्यु हो गयी। अपने गुरु के ग्रंथ की कमलशील द्वारा मीमांसा में सबसे पहले चार्वाक नाम आया प्रतीत होता है, साथ ही इस मत के पुरन्दर नामक एक अनुयायी का नाम भी। निस्संदेह, दर्शनशास्त्र के मौलिक ग्रंथों के पाठों में मुझ से अधिक विशेषज्ञ विद्वानों को खोज करनी होगी कि कमलशील की पंजिका से पहले चार्वाक नाम का उल्लेख कहीं मिलता है या नहीं।

कमलशील के बाद, चार्वाक नाम भारतीय दार्शनिक साहित्य में किसी हद तक प्रचलित हो जाता है। यहां केवल कुछ मुख्य उदाहरण प्रस्तुत हैं। यह नाम स्पष्ट रूप से जयन्त भट्ट की रचना में वर्तमान है, जो कि मोटे तौर से नौवी शताब्दी के प्रख्यात न्याय-वैशेषिक दार्शनिक थे। यह वेदान्तसूत्र की

रामानुजकृत मीमांसा में वर्तमान है। रामानुज ११वीं शताब्दी के दार्शनिक थे। वह जिसे **औपनिषदिक दर्शन** मानते थे उसकी वह आस्तिकतावादी-आदर्शवादी व्याख्या प्रस्तुत करना चाहते थे। जैन धर्मावलम्बी दार्शनिकों में, बहुत पहले आठवीं शताब्दी में हरिभद्र द्वारा रचित भारतीय दर्शन के वृहद ग्रंथ **षट्दर्शन-समुच्चय** की मीमांसा के लिए विख्यात गुणरत्न (लगभग पंद्रहवीं शताब्दी) ने अप्रतिबन्ध भौतिकवाद को चार्वाक दर्शन कहा है। किन्तु भारतीय दार्शनिक ग्रंथों में सबसे प्रसिद्ध **सर्वदर्शन-संग्रह** है, जिसकी रचना माधव ने १४ वीं शताब्दी में की थी। माधव विजयनगर राज्य में एक प्रभावशाली मंत्री होने के अलावा शंकर के अद्वैत वेदान्त नामक चरम आदर्शवाद के कट्टर अनुयायी थे। **सर्वदर्शन संग्रह** में माधव अपने को ज्ञात सभी प्रतिद्वन्द्वी विचारों का, या उन विचारों का जिन्हें वह खण्डन योग्य समझते थे—और इनमें अप्रतिबन्ध भौतिकवाद को वह सर्वप्रथम परित्याज्य समझते थे—खण्डन करके शंकराचार्य के दर्शन के सर्वोच्च महत्व को प्रतिस्थापित करना चाहते हैं। तात्कालिक संदर्भ में हमें जिस तथ्य से सरोकार है वह यह कि माधव ने इस भौतिकवाद को चार्वाक कहा है, जिसके फलस्वरूप **सर्वदर्शन संग्रह** के प्रथम अध्याय का शीर्षक ही 'चार्वाक दर्शन' रखा गया है। प्रसंगवश, यहां यह जोड़ा जा सकता है कि अपेक्षाकृत बाद की अवधि में भौतिकवाद को चार्वाक बताने की प्रथा इतनी अधिक प्रचलित हो गयी कि ग्यारहवीं शताब्दी के एक नाटककार कृष्णमिश्र ने शंकर के चरम आदर्शवाद के प्रचार के लिए एक रूपक (**प्रबोधचन्द्रोदय**) लिखा और उसमें भौतिकवाद (अथवा भौतिकवादी ?) को चार्वाक नाम से प्रस्तुत किया।

सच बात यह है कि चार्वाक नाम से चरम भौतिकवाद को अभिहित करना आज के भारत में दार्शनिक सहज ज्ञान का एक अंग बन गया है। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि बाद के अधिकांश भारतीय दर्शनविदों ने इसी नाम का प्रयोग किया है। लेकिन बात अगर इतनी-सी ही है तो इस तथ्य की पुष्टि के लिए इतने साक्ष्य जुटाने में हम क्यों अपना सिर खपायें? इसका सचमुच एक कारण है। और यह कारण बड़ा कौतूहलपूर्ण है, हालांकि आधुनिक विद्वानों ने शायद ही इसकी कोई चर्चा की है।

हमने जिन दार्शनिकों का ऊपर जिक्र किया है वे किन्हीं ग्रंथों के मीमांसाकार, अथवा पूर्ववर्ती कालों से चले आ रहे किन्हीं प्रभावी मतों के परवर्ती व्याख्याकार मात्र हैं। किन्तु कौतुहल की बात यह है कि जिन ग्रंथों की उन्होंने मीमांसा की है उनमें अथवा उन मतों की आदि-स्रोत-पुस्तकों में जिनका आगे चल कर उन्होंने समर्थन किया है, चार्वाक नाम ढूंढे नहीं मिलता। ऐसा नहीं है कि ये मूलपाठ, अथवा स्रोत-पुस्तकें स्वयं भौतिकवादी दर्शन से अनभिज्ञ थीं।

न ही यह बात सच है कि ये मौलिक ग्रंथ भौतिकवाद का खण्डन करने के प्रति उदासीन थे। इसके उलट, तथ्य यह है कि ऐसे ग्रंथ और स्रोत-पुस्तकें भौतिकवादी दर्शन को धराशायी करने के प्रति काफी उत्साह से भरपूर हैं। किन्तु इनमें जो चीज ढूंढे नहीं मिलती वह है नाम—चार्वाक। इस नाम के बदले, भौतिकवादी दर्शन का एक दूसरे नाम से उल्लेख मिलता है, अर्थात लोकायत नाम से, जो काफी प्राचीन समय से प्रचलित था।

दूसरे शब्दों में, लगभग ८वीं सदी से भौतिकवादी दर्शन के नामकरण में कुछ ठोस परिवर्तन आया।

भौतिकवाद का खण्डन करते हुए कमलशील ने इसे चार्वाक कहा। किन्तु उनकी रचना शांतरक्षित के **तत्वसंग्रह** की मीमांसा थी। शांतरक्षित ने भी भौतिकवाद का खण्डन किया था, हालांकि भौतिकवाद के लिए उन्होंने लोकायत नाम इस्तेमाल किया था। ऐसी ही स्थिति जैन दर्शनवेत्ता गुणरत्न के मामले में थी। हरिभद्र के ग्रंथ की मीमांसा करते हुए, गुणरत्न ने भौतिकवाद का खण्डन उसे चार्वाक नाम देकर किया है, जबकि स्वयं हरिभद्र की रचना में इसका खण्डन लोकायत नाम से किया गया है। जयन्तभट्ट की **न्यायमञ्जरी**, ठीक-ठीक कहा जाय तो, मीमांसा नहीं थी, हालांकि उन्होंने अनेकानेक बार न्याय-वैशेषिक दर्शन की, जिसके जयन्त स्वयं एक सुविख्यात प्रतिनिधि थे, स्रोत पुस्तकों से उद्धरण दिये हैं। जयन्त ने भौतिकवाद के विरुद्ध तर्क-वितर्क किया है और ऐसा करते समय उन्होंने उसे चार्वाक नाम दिया है। किन्तु न्याय-वैशेषिक दर्शन के स्रोत-ग्रंथ इस नाम से अनभिज्ञ हैं। भौतिकवाद का खण्डन करते समय ये स्रोत-ग्रंथ भौतिकवाद का उल्लेख प्रायः एक वर्णनात्मक उपाधि से करते हैं, यानी भूतचैतन्यवाद से—अर्थात 'ऐसा मत जिसके अनुसार चेतना पदार्थ से उद्भूत है।' शंकराचार्य के दृढ़ अनुयायी माधव ने भौतिकवाद को चार्वाक कह कर उसे त्यागने का प्रतिपादन किया, जबकि शंकर स्वयं उसके लिए लोकायत नाम का प्रयोग करते हैं।

ऐसे उदाहरण विलक्षण लगे बिना नहीं रह सकते। किसी समय जो लोकायत नाम से अधिक प्रचलित था वह अन्ततः चार्वाक नाम से पुकारा जाने लगा और बाद का यह चलन हमारे इस समय तक जड़ें जमाये है। इस सब में कोई घपला न होने पाये, इसलिए माधव पर्याप्त शब्दों में हमें यह स्मरण कराने में नहीं चूकते कि जिस दर्शन का वह चार्वाक कह कर खण्डन कर रहे हैं वह 'उचित ही' लोकायत नाम से भी जाना जाता था। 'उचित ही' शब्दों का प्रयोग बड़ा दिलचस्प है। 'उचित ही' क्यों? माधव भौतिकवादियों द्वारा रचित बताया जाने वाला एक छन्द उद्धृत करते है जिसमें दावा किया गया है कि अपरिहार्य मृत्यु के बाद जीवन की कोई संभावना नहीं, इसलिए किसी भी

व्यक्ति के लिए सबसे उपयुक्त यही है कि वह अपनी सामर्थ्य भर जीवन का आनन्द लूटे। ऐसी मनोवृत्ति अविवेकी जनसमुदाय की चारित्रिकता है, और फलतः वैकल्पिक विधि से इसका लोकायत नाम से उल्लेख उचित ही था, क्योंकि लोकायत का शब्दशः अर्थ है—'वह जो लोगों में' या अविवेकी जन-समुदाय में, 'प्रचलित है' : जीवन में किसी उदात्ततर आदर्श की परिकल्पना कर सकने में असमर्थ, ये लोग जीवन में केवल थोथे सुख-भोग की ही बात सोच सकते थे !

माधव की ऐसी टिप्पणी का उद्देश्य, निस्संदेह, भौतिकवाद के प्रति घृणा का प्रचार करना था। इसके साथ ही, ऐसा करते समय, वह हम लोगों के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण संकेत छोड़ गये हैं। यह है लोकायत के अर्थ के बारे में अस्पष्टता। लोकायत का अर्थ था अप्रतिबन्ध भौतिकवाद का दर्शन। लेकिन इसका अर्थ 'आम लोगों में प्रचलित' दर्शन भी था—ऐसा दर्शन जिसके प्रति सामान्य स्त्री-पुरुषों का समुदाय अपनी सहजवृत्ति से प्रतिबद्ध था। किन्तु इस अस्पष्टता की अधिक चर्चा बाद में करेंगे। फिलहाल, आइए हम अपने पुराने विषय पर लौटें, अर्थात भौतिकवादी दर्शन के नामकरण में परिवर्तन पर। लोकायत नाम सुदूर अतीत तक में मिलता है। लगभग आठवीं या नौवीं शताब्दी में लोकायत की जगह दूसरा नाम प्रस्थापित किया गया और यह नाम था चार्वाक। ऐसा सोच पाना चूंकि कठिन है कि नाम में यह परिवर्तन शुद्धतः आकस्मिक था, इसलिए इसके संभावित कारण के प्रति जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

तो फिर, कारण क्या हो सकता था? भौतिकवाद को चार्वाक नाम से पुकारने की नयी प्रथा क्यों?

आधुनिक विद्वज्जनों में रीज़ डेविड्स ही एकमात्र उल्लेखनीय व्यक्ति हैं जो इसका उत्तर सुझाते हैं। उनका मुख्य मुद्दा यह है कि चार्वाक नाम सीधे-सीधे **महाभारत** से, जिसमें हम इस नाम के दैत्य के बारे में पढ़ते है और जो खलनायक दुर्योधन का मित्र भी है, उठा लिया गया है। ऐसा सुझाव एकदम निराधार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि **महाभारत** के अतिरिक्त और कहीं भी चार्वाक नाम हमें नहीं मिलता। **महाभारत** के विभिन्न अंशों के रचनाकाल के बारे में बेशक विवाद है। लेकिन दुर्योधन के दैत्य-मित्र वाले **महाभारत**-पर्व का वास्तविक रचनाकाल जो भी रहा हो, इसमें संदेह नहीं कि यह अवश्य ही कमलशील और उन दूसरे दर्शनवेत्ताओं की रचनाओं से पहले का समय है जो भौतिकवाद के नाम में परिवर्तन के लिए प्रथमतः जिम्मेदार हैं। इसके अलावा, भौतिकवादी दर्शन पर चार्वाक नाम मढ़ देने का तुर्तफुर्त लाभ इसके प्रति किसी हद तक भय उत्पन्न कर देना था। वह एक दानवी दर्शन बन गया जो

दुर्योधन जैसे दुष्टों के मित्रों की अभिरुचि के अनुकूल था। इसके अलावा, व्याकरण को दरकिनार कर दीजिए, तो इस नाम से किसी हद तक ऐसा प्रकटतः स्वीकार्य अर्थ निकाल लेने की गुंजाइश है जिसमें अविवेकी जनसमुदाय के स्पष्ट पेटूपन की ओर संकेत है।

यहां तक तो रीज डेविड्स का अंदाजा विश्वसनीय लगता है। लेकिन कठिनाई यह है कि वह आगे बढ़ना चाहते थे और भौतिकवाद को भारतीय दार्शनिक यथार्थ से हटा देने तक का सुझाव दे बैठे; दूसरे शब्दों में, भारतीय चिन्तन परम्परा में अप्रतिबन्ध भौतिकवादी दर्शन के अस्तित्व की ऐतिहासिक सम्भावना पर वक्र प्रश्नचिन्ह लगा बैठे। उनके मतानुसार, यह शंकर और उनके अनुयायियों की मात्र कल्पना की उपज भी हो सकता था जिन्होंने अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण का सिक्का जमाने के लिए एक संभावित विकल्प—भौतिकवाद—गढ़ लिया और अपनी स्थिति को अभेद्य बनाने के लिए इस भौतिकवाद को धराशायी किया। स्पष्टतः ही, रीज डेविड्स के दावे का यह पहलू अधिक विश्वसनीय नहीं है। शंकर की बात तो अलग, वस्तुतः कोई भी ऐसा विश्रुत दर्शनविद् अथवा दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं हुआ जिसकी नींद भौतिकवाद ने हराम न की हो। जैसा कि हम देखेंगे, ऐसे दार्शनिक मौजूद थे जो भौतिकवादियों के बहुत-से दावों से सहमत होते हुए भी, एक न एक रूप में भौतिकवाद की निन्दा करने का दिखावा करने को विवश थे। भारतीय दार्शनिक परिस्थिति का स्पष्ट ही यह एक बड़ा विचित्र लक्षण रहा है और हमें इसे समझने का प्रयास करना पड़ेगा। हमारे वर्तमान के लिए महत्वपूर्ण है यह लक्षित करना कि दर्शनवेत्ताओं में बाद में मचने वाले हंगामे की बात तो दूर, प्राचीन उपनिषदों और बौद्धों के पालि ग्रंथों तक में, भौतिकवाद से दूर ही दूर रहने की उत्कंठा साफ-साफ दर्ज है। भारतीय चिन्तन में भौतिकवाद के अस्तित्व की पूरी कहानी कोई कपोल कल्पना मात्र नहीं हो सकती।

लेकिन रीज डेविड्स जैसे गम्भीर विद्वान में यह उन्मुखता क्यों पैदा हुई कि भारतीय दार्शनिक परम्परा से भौतिकवाद की वास्तविकता को वस्तुतः सफाचट कर दिया जाय? इसका कम से कम एक महत्वपूर्ण कारण लोकायत/चार्वाक मत के किसी भी सम्मानित व्यक्ति के लिए अस्वीकार्य होने के पक्ष में बाद में उठाया गया निन्दा अभियान है। इस अभियान के प्रभाव के वशीभूत और बौद्ध धर्म के साहित्य के गहन परायण के फलस्वरूप, उन पालि ग्रंथों में उन्हें प्रकटतः एक विचित्र परिदृश्य के दर्शन हुए, जिन्हें प्रायः बुद्ध का कथनोपकथन माना जाता है। इन कथनोपकथनों में अक्सर ही पांडित्यपूर्ण ब्राह्मणों के बुद्ध से मिलने का उल्लेख है जिनके पांडित्य की विशिष्टता के रूप में उनके

'लोकायत में पारंगत होने' का जिक्र आता है। किन्तु पालि स्रोत यह बताने का कष्ट नहीं करते कि उक्त संदर्भों में लोकायत से तात्पर्य क्या है।

पालि सूत्रों के व्याख्याकार बुद्धघोष लोकायत को भ्रान्त-विवेचना और निरर्थक तक बता कर छुट्टी पा लेना चाहते हैं, जैसे यह तर्क कि : "कौआ सफेद है क्योंकि उसकी हड्डियां सफेद हैं", आदि। ऐसी व्याख्या से असंतुष्ट रीज डेविड्स इन संदर्भों में लोकायत को 'प्रकृति का गीत' जैसा कोई अर्थ प्रदान करना चाहते थे, चाहे इससे उनका जो भी तात्पर्य हो। जो भी हो, इन संदर्भों में लोकायत का अर्थ अप्रतिबन्ध भौतिकवाद नहीं हो सकता था जिसके लिए शीघ्र बाद ही इस नाम का प्रयोग किया जाने लगा : ऐसे घृणित दर्शन में अपनी दक्षता घोषित करके कोई भी ब्राह्मण गर्व का अनुभव नहीं कर सकता था।

लेकिन एक और सम्भावना भी है और रीज डेविड्स इसकी ओर कतई ध्यान नहीं देते। परवर्ती काल में भौतिकवादी दर्शन को कितना ही घृणास्पद चित्रित करने का प्रयास क्यों न किया गया हो, प्राचीन काल में स्थिति संभवत: भिन्न थी। दार्शनिक मनीषियों का एक हिस्सा आदर्शवादी मत का गुणगान करना चाहता था और फलत: भौतिकवाद को अस्वीकृत करना चाहता था, लेकिन अन्य लोग नहीं। उपनिषदकाल में ही—जिसके शीघ्र बाद ही बुद्ध-वचनों का आविर्भाव हुआ—देश के आम बौद्धिक वातावरण में खासी उथल-पुथल मची थी जिसमें अनेकानेक मत एक-दूसरे के विरुद्ध प्रस्तुत किये जा रहे थे और इनमें से किसी भी मत का गला घोंटने में भारतीय पोंगा-पंडितों का प्रत्याशित सुदृढ़ीकरण सफल नहीं हो पा रहा था। यह सुदृढ़ीकरण स्मृतियों के रचयिताओं की पहलकदमी का परिणाम था। इसकी विस्तार में चर्चा से पूर्व यहां हम इस बात पर बल देना चाहते हैं कि उस समय के बौद्धिक वातावरण में भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रतिनिधि, प्रकृति विज्ञान को सुदृढ़ करने में संलग्न विद्वानों के बीच विशेष तौर से मौजूद थे। बाबा आदम के जमाने के जादू-टोने और तंत्र-मंत्र में विश्वास से औषधिशास्त्र को मुक्त करने और उसे सुनिर्मित भौतिकवादी दृष्टिकोण पर आधारित करने के लिए प्रयत्नशील मनीषी यह घोषणा करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे कि उनके अपने दृष्टिबिन्दु से भौतिकवादी दृष्टिकोण ही सारगर्भित है। चरक-संहिता में एक औषधिक चर्चा का सार प्रस्तुत करते हुए एकदम खुले शब्दों में अत्रेय नामक एक महर्षि ने यही बात कही है। इस बृहद ग्रंथ चरक-संहिता की रचना की कोई निश्चित तिथि निर्धारित करना भ्रामक होगा, क्योंकि इस सच्चाई की स्वीकारोक्ति स्वयं इस ग्रंथ में मौजूद है कि अपने वर्तमान रूप

में हम तक पहुंचने से पहले यह विविध लोगों के हाथों से गुजरा है। किन्तु इस तर्कसम्मत औषधिशास्त्र का मौलिक सैद्धान्तिक आधार अवश्य ही बहुत पहले निर्मित हुआ होगा। फिर, अर्थशास्त्र नामक ग्रंथ में, जिसकी बुद्ध के कुछ शताब्दियों बाद ही रचना हुई होगी, विशुद्ध तर्कसम्मत अथवा तर्क-आधारित दर्शन के तीन—और केवल तीन ही—रूप स्वीकार किये गये हैं, और इनमें से एक रूप लोकायत है।

मैंने इन बातों का जिक्र सिर्फ एक चीज पर जोर देने के लिए किया है। हमारे इतिहास के प्राचीन काल में अवश्य ही कोई ऐसी अवधि रही होगी जब न तो भौतिकवादी दर्शन और न ही लोकायत निम्नकोटीकरण का सूचक माना जाता होगा। अतएव यह कोई स्वतःप्रत्यक्ष बकवास नहीं कि सम्भ्रांत वर्ग के कुछ सदस्य अपने को लोकायत के, और वह भी भौतिकवादी दर्शन के अर्थ में, सुविज्ञ अधिकारी घोषित करते होंगे। रीज डेविड्स ने जिस मुख्य साक्ष्य के आधार पर यह बताने का प्रयास किया है कि भौतिकवादी दर्शन के रूप में लोकायत एक मनगढंत चीज रही होगी, वह हमें मान्य नहीं।

इससे उलट, शायद ठीक यहां ही हम इस दर्शन का नाम लोकायत से बदल कर चार्वाक रखने की अपेक्षतया परवर्ती काल में महसूस की गयी जरूरत का रहस्य खोजना शुरू कर सकते हैं। आठवीं या नौवीं शताब्दी के आसपास रूढ़िवाद—फिर यह चाहे ब्राह्मणों, बौद्धों या जैनियों का रूढ़िवाद हो—पूरी तरह पुख्ता बनाया गया। इसके अतिरिक्त, यही वह काल भी था जिसमे भारतीय दर्शन पर वाद-विवाद ने तीक्ष्ण, सुपरिभाषित और परिपक्व रूप ग्रहण किया। इन परिस्थितियों में भौतिकवादी दर्शन के विरुद्ध सम्पूर्ण वेग से हमला बोलना एक अनिवार्यता भी बन गया हो सकता है। संदेह नहीं कि इसके विरुद्ध तर्कों का तूफान खड़ा कर दिया गया था। लेकिन एक या दूसरे अर्थ में लोकायत नाम के प्रति पहले से चले आ रहे समादर और प्रतिष्ठा भाव को भी गिराना था। इसका एक सहज उपाय था—इसके नाम को एक दुष्ट राक्षस के नाम में बदल देना। ऐसे राक्षस की कहानी महाभारत में पहले से ही मौजूद थी। इस दृष्टि से रीज डेविड्स के इस संकेत को कि चार्वाक नाम महाभारत से उठाया गया हो सकता है, आसानी से ठुकराया नहीं जा सकता। जो भी हो, अनुसंधान के वर्तमान चरण में, भौतिकवादी दर्शन के नाम में उक्त परिवर्तन की और इसके साथ ही नये नाम के लिए निरुक्ति की ऐसी कूटरचना करने की कि व्याकरण के कठोर नियमों को धता बताते हुए भी, उसके प्रति घृणा का रंग और गाढ़ा किया जा सके, कोई दूसरी बेहतर व्याख्या नहीं दिखायी देती।

२. महाभारत में चार्वाक दैत्य

इस सम्भावना को स्वीकार कर लेने पर कि चार्वाक नाम महाभारत से लिया गया होगा, एक दिलचस्प बात लक्षित करने योग्य है। इस महाकाव्य की प्रचारात्मक सामग्री से जो लोग नितांत अभिभूत नहीं हैं, वे यह देखे बिना नहीं रह सकते कि भौतिकवाद को बदनाम करने का यह उपाय एकदम विपरीत परिणाम पर पहुंचा सकता था। कारण यह कि इस कथा से—वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करने पर—चार्वाक की नैतिक स्थिति पर कुछ नयी ही रोशनी पड़ती है। कथा की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है।

कुरुक्षेत्र में हुए महायुद्ध के बाद विजयी पाण्डव भ्राता बड़े हर्षोल्लास और सजधज के साथ वापस लौट रहे थे। युधिष्ठिर को आशीर्वाद देने के लिए हजारों ब्राह्मण नगर द्वार पर एकत्रित हुए थे। इनमें चार्वाक भी था। युधिष्ठिर की प्रशंसा और स्तुति में अभिसंख्य ब्राह्मणों द्वारा कहे जा रहे प्रशंसात्मक वचनों की धुआंधार वर्षा की परवाह न करते हुए, चार्वाक आगे बढ़ आया और युधिष्ठिर को सीधे सम्बोधित करते हुए बोला: "अपने ही बन्धु-बान्धवों को मौत के घाट उतारने के लिए ब्राह्मणों का यह समुदाय तुम्हें धिक्कारता है। वास्तव में तुमने जो कुछ प्राप्त किया है वह अपने बन्धु-बान्धवों को नष्ट करके और स्वयं अपने गुरुजनों की हत्या करके प्राप्त किया है। तुम्हें तो शर्म से मर जाना चाहिए।"

चार्वाक की इस अकस्मात उद्घोषणा को सुन कर वहां एकत्रित ब्राह्मण हतप्रभ रह गये। युधिष्ठिर का विजय-गर्व चकनाचूर हो गया। उन्होंने मन ही मन आत्महत्या करने की ठान ली। लेकिन इस बीच अन्य ब्राह्मणों ने अपने होश संभाल लिये। उन्होंने युधिष्ठिर को आश्वासन दिया कि चार्वाक के वाक्य कतई गम्भीरता से नहीं लिये जाने चाहिए। उनका सच्चा प्रतिनिधि होने के बजाय वह दरअसल छद्म रूप धारण किये हुए राक्षस था और शायद इससे भी बदतर यह कि वास्तव में वह युधिष्ठिर के शत्रु दुर्योधन का मित्र और सहयोगी था। उन्होंने सम्राट युधिष्ठिर को विश्वास दिलाया कि सच्चे ब्राह्मणों के हृदय में उनके गौरवशाली कृत्यों के प्रति असीम सराहना की भावना है।

और, उन ब्राह्मणों ने भिन्नमतावलम्बी चार्वाक को जला कर राख कर दिया। सम्राट युधिष्ठिर ने इन पुण्यात्मा ब्राह्मणों को अनेकानेक दान देने की आज्ञा देकर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

यही है, संक्षेप में, महाभारत में चार्वाक की कथा। तथापि, उन लोगों तक के लिए, जो अपने भोलेपन में मान बैठते हैं कि चार्वाक छद्म रूप में राक्षस ही था, इस कथा में शायद पुनर्विचार के लिए कुछ सामग्री मौजूद है—

विशेषकर चार्वाक द्वारा अपनायी गयी नैतिक अथवा सदाचार विषयक स्थिति को लेकर। उक्त कथा हमें यह स्वीकार करने को प्रेरित करती है कि अपने ही बन्धु-बान्धवों को मौत के घाट उतारने और अपने ही गुरुजनों की हत्या करने के लिए युधिष्ठिर की निन्दा करने का साहस चार्वाक में ही मौजूद था। इस कथा में ऐसी कोई बात नहीं जो खाओ-पियो-मौज-करो कल-की-कौन-जाने वाली नैतिकता की ओर संकेत करती हो। इसके विपरीत, महाकाव्य में वर्णित महा-युद्ध से सम्बंधित कथाओं में यदि केवल सुख-भोग के पीछे दौड़ने की खोज की जानी है, तो वह इस कथा में नहीं, बल्कि अन्यत्र खोजी जानी चाहिए। युद्ध आरम्भ होने से पहले, पाण्डव शिविर के महानतम योद्धा अर्जुन के मन में अपने ही बन्धु-बान्धवों तथा गुरुजनों के विरुद्ध शस्त्र उठाने की बात पर ऊहा-पोह शुरू हो जाती है। अर्जुन की इस हिचकिचाहट को निर्मूल करने के लिए कृष्ण के रूप में स्वयं परमपिता परमेश्वर दृश्यपटल पर प्रकट होते हैं। अर्जुन की हिचकिचाहट को निर्मूल करने के लिए परमेश्वर अर्जुन की चेतना को आध्या-त्मिकता की चमत्कारी ऊंचाइयों तक ले जाते हैं, जहां से, नीचे देखने पर, मौत के घाट उतारने वाले और मृत, मात्र छायाओं के रूप में विलीन होते दिखायी देते हैं। प्राचीन भारत में राजनीति और दर्शन की चर्चा करते समय हम इस विषय पर फिर लौटेंगे और देखेंगे कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस तरह की आध्यात्मिकता की राजनीतिक भूमिका का एक समय किस तरह मूल्यांकन किया था। इस समय तो हम सिर्फ इस बात को इंगित करेंगे कि आध्यात्मि-कता का अपना उपदेश शुरू करने से पूर्व परमपिता परमेश्वर ने किस तरह अर्जुन को ठेठ इहलौकिक और एकदम ठोस लाभों की ओर आकर्षित करना उचित समझा। उन्होंने कहा : "हे अर्जुन, युद्ध में यदि तुम मारे जाते हो तो स्वर्ग का सुख भोगोगे और यदि विजयी होते हो तो वसुन्धरा का सुखोपभोग करोगे।"

यह सब बड़े ही मुखर रूप से कहा गया है। दोनों ही विकल्पों में सुख उपस्थित था—अपने बन्धु-बान्धवों को मारने में सफल होने पर पृथ्वी के सुख का उपभोग और युद्ध में मारे जाने पर स्वर्ग के सुख का उपभोग। अगर यह निरा सुखभोगवाद नहीं था तो और क्या था? इस तरह, सुखभोगवाद के प्रचार का उपरोक्त दायित्व दरअसल किसी और पर ही था। इसके विपरीत, महाभारत की पूर्ववर्णित कथा में चार्वाक के मुंह से जो कहलाया गया है उसमें नैतिकता व सदाचार का जो स्वर है, वह कहीं ज्यादा उदात्त है। इसलिए, चार्वाक नाम अन्ततः यदि महाभारत की कथा से उठाया गया माना जाय, तो भौतिकवादी दर्शन को दानवी दर्शन कह कर सहज ही बदनाम करने का आकर्षण तो जरूर दिखायी देता है; लेकिन इस दर्शन को थोथे सुख के पीछे

दौड़ने वाला बता कर इसकी निन्दा करने की गुंजाइश खत्म हो जाने का खतरा भी मौजूद रहता है।

लेकिन चार्वाक नाम के महाभारत की कथा से लिये जाने की संभावना अब भी एक विवादास्पद प्रश्न ही बनी रहती है। तथापि, इस सम्भावना से इन्कार करने पर यह आवश्यक हो जायेगा कि इस तथ्य की कोई दूसरी ही व्याख्या उपस्थित की जाय क्योंकि आठवीं या नौवीं शताब्दी से इस दर्शन के नामकरण में अकस्मात परिवर्तन आया। किसी गम्भीर आधुनिक विद्वान द्वारा इसकी कोई वैकल्पिक व्याख्या पेश किये जाने की जानकारी हमें अभी तक नहीं है।

३. लोकायत

तो आइए अपनी चर्चा की मुख्य डोर फिर से पकड़ें।

बौद्ध दर्शनवेत्ता शांतरक्षित ने भौतिकवाद या भौतिकवादियों का खण्डन जहां लोकायत के रूप में किया, उनके मीमांसक कमलशील ने चार्वाक कह कर उनका खण्डन किया। जैन दर्शनवेत्ता हरिभद्र जहां उनका खण्डन लोकायत के रूप में करना चाहते थे, उनके मीमांसक गुणरत्न उसका चार्वाक कह कर खण्डन करना चाहते हैं। शंकर जहां उसे लोकायत के रूप में प्रस्तुत करते हैं, उनके अनन्य अनुयायी माधव उसे चार्वाक कहना पसन्द करते हैं।

इसलिए, चार्वाक नाम आज ऊपरी तौर से चाहे जितना भी प्रचलित हो, पूर्ववर्ती काल में इसके लिए लोकायत नाम ही प्रयुक्त होता था। इस मामले में किसी तरह का भ्रम न बना रह जाय, इसलिए माधव दो-टूक ढंग से हमें यह स्मरण कराना नहीं भूलते कि पहले जो लोकायत कहलाता था वही चार्वाक है। ऐसा करते समय, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, माधव उसकी निन्दा करने का मौका हाथ से नहीं जाने देना चाहते। उसे लोकायत कहते थे क्योंकि वह लोगों (लोक) में व्याप्त (आयत) था। और, आम निर्बुद्धि लोगों के जमघट से कोई इससे अधिक आशा ही क्या कर सकता है कि उन्हें भौतिक जगत और उसके थोथे सुखभोगों से सरोकार होगा? जैसा कि माधव ने लिखा है, "धन-सम्पदा और तुच्छ सांसारिक वासनाओं को ही मनुष्य का परम लक्ष्य मानने वाले तथा परलोक की किसी भी वस्तु के प्रति उदासीन, आम लोगों का समुदाय राजनीति और आनन्दोपभोग की वृत्तियों के अनुरूप चार्वाक के विचारों का ही अनुयायी है। इसलिए, इस चिन्तनधारा का दूसरा नाम लोकायत है—ऐसा नाम जो इसकी प्रवृत्तियों को उजागर करता है।"

इस तरह, प्राचीन भारत में दार्शनिक शब्दावली में एक दिलचस्प गोलमाल दिखायी देता है। हमारे प्राचीन दर्शनवेत्ता जनसाधारण के दर्शन और

भौतिकवादी दर्शनशास्त्र के लिए दो पृथक शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं समझते थे। एक ही शब्द दोनों के लिए इस्तेमाल होता था। यह शब्द था: लोकायत। लोकायत का अर्थ था आम लोगों का दर्शन; लोकायत का अर्थ इस जगत का दर्शन या भौतिकवाद भी था। ई. बी. कौवेल, एच. टी. कोलब्रूक, एच. पी. शास्त्री, एस. एन. दासगुप्ता, मोनियर-विलियम्स तथा अन्य ख्यातनामा आधुनिक दर्शनविदों ने इस शब्द के दोनों अर्थों को न्यायोचित ठहराने के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये हैं और इस सिलसिले में प्राय: समपार्श्विक पाठों के उद्धरणों को दोनों के समर्थक साक्ष्य के रूप में पेश किया है।

उन्होंने जिस बात पर पर्याप्त रूप से जोर नहीं दिया, वह एक दूसरा ही मुद्दा है। पुराने लोगों के लिए इस शब्द से निकाले जाने वाले दोनों आशय इसके प्रति भर्त्सना से निर्दिष्ट थे। प्रज्ञाहीन जनसमुदाय चीजों को जिस रूप में देखता था या उन लोगों का जो विश्व दृष्टिकोण था, दोनों ही के प्रति इन पुराने लोगों के मन में बहुत घृणा थी। लेकिन उनके सामने एक ही शब्द में दोनों अर्थों के जोड़ दिये जाने का खतरा नहीं था: श्रमिकजन अपनी स्थिति के कारण गुलामी या दासवृत्ति में जकड़े थे। इसलिए उनका विश्व दृष्टिकोण भी सहजत: कुत्सापूर्ण हुए बिना नहीं रह सकता था।

लेकिन दुनिया बदलती है। और इसके साथ ही उनके बुनियादी हितों की पूर्ति करने वाला विश्व दृष्टिकोण और सामान्य जनसमुदाय की दशा भी बदलती है। अभी ही दुनिया के एक बड़े भाग में आम जनता के विशाल समुदाय ने चाकरी बजा लाने वाले गुलाम या दास मात्र बने रहने से इन्कार कर दिया है। वे अधिकाधिक इस बात के कायल होते जा रहे हैं कि उनके पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवा और कुछ नहीं। और, इन बेड़ियों को चकनाचूर करने का एक महत्वपूर्ण हथियार भौतिकवादी दृष्टिकोण है। सो पुरानी अस्पष्टता तो बनी हुई है, लेकिन इसके महत्व ने अब ठीक विपरीत स्थिति ग्रहण कर ली है। जो एक समय सिर्फ कुत्सा का द्योतक था, उसने अब स्पष्ट खतरे का रूप धारण कर लिया है। जनसमुदाय अब निष्क्रिय गुलाम या दास बना रहने के लिए तैयार नहीं। उसका विश्व दृष्टिकोण भी समृद्ध हुआ है—तथा अधिकाधिक समृद्ध होता जा रहा है। और इसका श्रेय विज्ञान की प्रगति को है। लेकिन दोनों का बीजकोष मौजूद है—अर्थात जनता और उसका भौतिकवादी दर्शन। इसलिए—भारतीय संदर्भ में—दोनों को एक नये स्तर तक उठाने का कार्यभार भी मौजूद है: भारतीय जनता को वर्ग-चेतन मजदूरों और किसानों के स्तर तक ले जाने का कार्यभार; लोकायत में अन्तर्निहित प्राचीन ज्ञान को आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवाद के स्तर तक ले जाने का कार्यभार। दुश्चिन्ता

के वर्तमान दौर के बावजूद, जिससे होकर हम इन दिनों गुजर रहे हैं, दोनों के ही लिए आज संघर्ष जारी है।

४. बार्हस्पत्य

चार्वाक और लोकायत के अलावा, एक तीसरा नाम भी है जिससे प्राचीन भारतीय भौतिकवाद की ओर प्रायः संकेत किया जाता है। यह है बार्हस्पत्य, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'बृहस्पति का सिद्धांत', या, अधिक सटीक रूप में, 'बृहस्पति द्वारा प्रचारित सिद्धांत'। ऊपर से देखने पर यह बात कुछ विचित्र सी लगती है। कारण यह कि भारतीय पुराणों के अनुसार बृहस्पति कोई और नहीं, स्वयं देवताओं के गुरु हैं। लेकिन उनके दर्शन को हमारे तमाम दर्शन-वेत्ताओं द्वारा जो सबसे हेय दर्शन है, वह माना जाता है। तो स्वयं देवताओं के गुरु ऐसे दर्शन की शिक्षा कैसे दे सकते थे?

जब हम इस प्रश्न का उत्तर खोजने निकलते हैं, तो अपने को फिर उसी पुरानी स्थिति के सामने पाते हैं। यहां भी आविष्कार का सहारा लिया गया है और यह आविष्कार भी सीधे-सीधे कीचड़ उछालने की उसी भावना से प्रेरित था।

कहा जाता है, एक समय देवताओं (देवों) और राक्षसों (असुरों) में घमासान संग्राम छिड़ गया था। राक्षसों ने, प्रकटतः अधिक बलशाली होने के कारण, देवताओं की हालत किसी हद तक खस्ता कर रखी थी। अब बृहस्पति ने एक कुटिल चाल सोच निकाली। वह भेष बदल कर राक्षसों के बीच पहुंचे और उन्हें भौतिकवादी दर्शन की शिक्षा दी। राक्षस इतने मूर्ख थे कि उन्होंने इस दर्शन को बड़ी गम्भीरता और तत्परता से ग्रहण कर लिया। लेकिन इस दर्शन ने, स्वयं नितांत कुमार्गी होने के कारण, राक्षसों का शीघ्र ही अधःपतन ला दिया। यह अवसर देवताओं के लिए बड़ा अनुकूल सिद्ध हुआ और उन्होंने आसानी से राक्षसों को हरा दिया।

यही है भौतिकवाद को 'बृहस्पति द्वारा प्रचारित दर्शन' नाम दिये जाने के पीछे प्रचलित कथा। ऐसी दशा में, इस विशेषण को हम व्यक्तिवाचक नाम मानें या भौतिकवादी दर्शन के खिलाफ महज एक चेतावनी? स्पष्टतः बाद वाली चीज। भौतिकवाद के ऊपरी लुभावनेपन के प्रति सावधान! मत भूलो कि इसके भ्रष्ट प्रभाव के तहत राक्षसों की क्या दशा हुई थी! हां, अगर बिनाशकारी परिणामों के प्रति तुम निरे उदासीन हो, तो भले ही इसे स्वीकार कर लो!

विष्णु-पुराण में इस कथा का कुछ अधिक विस्तार से वर्णन है, हालांकि

इसका मौलिक कोषाणु मैत्रेय-पुराण में मौजूद है। कुछ अन्य उपनिषदों में भी भौतिकवाद का सीधे-सीधे दानवी दर्शन, या दानवों के लिए चारित्रिक दर्शन, के रूप में वर्णन किया गया है। इस सिलसिले में, यह नोट करना दिलचस्प होगा कि प्राचीन यूनान के महान दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) भी लोगों के दिलोदिमाग में यही बैठाना चाहते थे कि आदर्शवाद और भौतिकवाद के बीच मौलिक बहस दानवों और देवताओं के बीच चल रहे संघर्ष का ही एक रूप थी जिसमें दानव, बेशक, भौतिकवाद का पक्ष ले रहे थे।

इस तरह, भौतिकवाद के खिलाफ अभियान न तो आधुनिक है और न विशुद्ध रूप से भारतीय ही। लेकिन हम अपने को मुख्यतः भारतीय परिस्थिति तक सीमित रखेंगे।

५. भारतीय भौतिकवाद की समस्याएं

इस तरह, हमने देखा है कि प्राचीन भारतीय भौतिकवाद हमारे पास तीन वैकल्पिक नामों से पहुंचा है : बार्हस्पत्य, चार्वाक और लोकायत। इन तीनों में, बार्हस्पत्य और चार्वाक नाम खुले तौर से इस दर्शन को बदनाम करने की भावना से प्रेरित हैं और इसलिए संभवतः स्वयं भौतिकवादी अपने दर्शन को इन नामों से सम्बोधित नहीं करते होंगे।

लोकायत के बारे में स्थिति कुछ भिन्न थी। शंकर और माधव जैसे परवर्ती आदर्शवादी इस नाम के लिए भर्त्सनापूर्ण महत्व आविष्कृत करने में यद्यपि कुछ भी उठा नहीं रखना चाहते थे, तथापि **अर्थशास्त्र** और पालि **त्रिपिटक** जैसे ग्रंथों में इस बात के संकेत मौजूद हैं कि लोकायत शब्द में एक समय सम्मान और आदर का भाव निहित था। तो क्या यह संभव है कि भौतिकवादी इस नाम से जाने जाना पसंद करते थे ? इसका हमारे पास निश्चित उत्तर मौजूद नहीं है। अगर उत्तर मौजूद नहीं है, तो हमें भौतिकवाद के असली नाम को ढूंढ निकालने की अन्य सम्भावनाओं की तलाश करनी ही होगी।

लेकिन प्राचीन भारतीय भौतिकवाद की चर्चा करते समय दूसरी—तथा ज्यादा गम्भीर—कठिनाइयां सामने आती हैं। इनमें जो सबसे बड़ी कठिनाई है वह सर्वविदित है क्योंकि आधुनिक विद्वानों ने बार-बार इसका हवाला दिया है। भौतिकवादियों की कोई भी वास्तविक रचना हमें उपलब्ध नहीं। क्या इसका कारण यह हो सकता है कि ऐसी कोई रचना थी ही नहीं ? ऐसी संभावना के खिलाफ जी. टुक्की और एस. एन. दासगुप्ता जैसे आधुनिक प्रतिष्ठित विद्वानों ने निर्णायक साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं। मुख्य रूप से व्याकरण सम्बंधी साहित्य से उन्होंने ऐसे अविवादास्पद प्रमाण खोज निकाले हैं जिनसे सिद्ध होता

है कि भौतिकवादियों की वास्तविक रचनाओं का वितरण और पठन-पाठन होता था। किसी भौतिकवादी रचना की, जो अब लुप्त है, एक मीमांसा भी रही होगी और इस मीमांसा का नाम भागुरी था। इसके अतिरिक्त, बौद्ध दर्शनवेत्ता कमलशील ने एक भौतिकवादी के नाम तक का उल्लेख किया है। इन्हें पुरन्दर नाम से जाना जाता था और **चार्वाकमते-ग्रंथकर्ता**—अर्थात्, चार्वाक दृष्टिकोण से ग्रंथ रचने वाले विद्वान—के रूप में अन्यत्र इनका उल्लेख हुआ है। एक पालि बुद्ध-वचन में (जिसे **शामन्नय-फल-सुत्त** कहा जाता है) हमें एक अन्य भौतिकवादी दर्शनवेत्ता अजीत केशकम्बली का नाम मिलता है, जिनके विचार बहुत कुछ भौतिकवादी प्रतीत होते हैं, लेकिन जिनके द्वारा कभी किसी ग्रंथ की रचना किये जाने का उल्लेख नहीं मिलता। भौतिकवादियों की वास्तविक रचनाओं के अन्य प्रमाण भी हैं और सम्भवतः इनकी ओर से आंखें नहीं बन्द की जा सकतीं।

क्या हुआ उन ग्रंथों का? ज्यार्ज थॉमसन ने कहा है कि यूनानी दार्शनिक डेमोक्रिटस के परमाणुवादी भौतिकवाद से खीझे और खिसियाये हुए अरस्तू यह चाहते थे कि डेमोक्रिटस के ग्रंथों को जला दिया जाय। और यही सचमुच किया भी गया। ऐसी दशा में, कुछ-कुछ ऐसी ही स्थिति प्राचीन भारत में भौतिकवादी ग्रंथों के संदर्भ में रही होगी—जिसका दावा एक बार जवाहरलाल नेहरू ने भी किया था। जो भी हो, **महाभारत** यदि चार्वाक को जला कर खत्म कर देने तक आगे बढ़ सकती है, तो भौतिकवादियों के ग्रंथों को जानबूझ कर नष्ट कर देने की संभावना को प्रत्यक्षतः कोई अनहोनी बात नहीं माना जा सकता : यह तथ्य अपनी जगह अटल है कि भौतिकवादियों का कोई भी वास्तविक ग्रंथ हम तक नहीं पहुंच सका है।

६. जयश्री भट्ट

एक लम्बी अवधि तक वस्तुतः यही सब हमारे दार्शनिक बोध का अंग बना रहा। और तब एक कुछ-कुछ नाटकीय घटना घटी। १९४० में किन्हीं जयश्री भट्ट कृत एक रचना **तत्वोपप्लव-सिंह** प्रकाशित हुई। प्रकाशित ग्रंथ के सम्पादकों ने दावा किया कि अन्ततः चार्वाकों या वार्हस्पत्यों का एक मौलिक ग्रंथ प्राप्त हो गया है। इन सम्पादकों के विविध सम्पार्श्विक साक्ष्यों के आलोचनात्मक विश्लेषण के अनुसार जयश्री भट्ट संभावित रूप से आठवीं सदी के दर्शनवेत्ता थे। इस जानकारी से विद्वत-जगत में बड़ी हलचल मची, विशेषकर इसलिए कि उक्त ग्रंथ के सम्पादकों में से एक पंडित सुखलाल जी सिंघवी भी थे। वह परम्परागत भारतीय विद्वानों में अविवादास्पद रूप से अग्रणी माने जाते हैं।

इसके बावजूद, इस ग्रंथ के सचमुच चार्वाक या बार्हस्पत्य मत का होने के दावे को मान लेने में अनेक कठिनाइयां हैं ।

सबसे पहले तो सम्पादकों ने जो दावा किया है, उसी को लेकर प्रकटत: कुछ कठिनाइयां हैं। ये कठिनाइयां ग्रंथ के रचनाकार और ग्रंथ के नाम के सिलसिले में हैं। रचनाकार के नाम के साथ जुड़ा भट्ट शब्द हमें उनके ब्राह्मण होने की याद दिलाये बिना नहीं रहता। बुद्धकालीन भारत में यथार्थ स्थिति जो भी रही हो, आठवीं सदी के ब्राह्मण के बारे में—जब चार्वाक मतावलम्बियों के विरुद्ध अभियान रूढ़िवादी चक्रों मे अपने शिखर पर था—यह सोच सकना आसान नहीं कि वह चार्वाक मत के समर्थन में ग्रंथ लिखेगा। ग्रंथ के नाम की भी चर्चित दावे के साथ आसानी से पटरी नहीं बैठती। **तत्वोपप्लव-सिंह** का शाब्दिक अर्थ है : 'वह सिंह जो सभी दार्शनिक धाराओं या दार्शनिक मतों को विनष्ट करता है'। फलत: शाब्दिक अर्थों में ग्रंथ का प्रयोजन चार्वाक मत को विनष्ट करना भी है। कम से कम इस मत को दार्शनिक रुतबा दिये जाने के दावे को विनष्ट करना तो है ही।

इसे सचमुच चार्वाक मत का ग्रंथ मानने में इसकी वास्तविक विषय-वस्तु भी बहुत ज्यादा कठिनाई उत्पन्न कर देती है। ग्रंथ इस प्रकारात्मक भौतिकवादी स्थिति से आरम्भ होता है कि पृथ्वी, जल तथा दूसरे भौतिक तत्व आम लोगों को सुविदित हैं। किन्तु, शीघ्र बाद ग्रंथ में कहा गया है कि समीक्षात्मक कसौटी पर कसे जाने पर ये तत्व भी सही नहीं उतरते। इस प्रकार, दूसरे शब्दों में, ग्रंथ का श्रीगणेश वस्तुत: सुविदित भौतिकवादी स्थिति के अस्वीकरण से होता है, फिर वह आम लोगों में चाहे जितनी प्रचलित हो। पुस्तक के अन्त में रचनाकार, चार्वाक भौतिकवाद के कथित संस्थापक—बृहस्पति—के नाम का पुन: उल्लेख करता है।

किन्तु ऐसा करते हुए रचनाकार यह दम्भ भरता है कि जो ज्ञान उसने ग्रंथ में प्रस्तुत किया है, वह देवताओं के गुरु की पहुंच के भी बाहर था। क्या बार्हस्पत्य मत के किसी सच्चे अनुयायी के लिए यह दम्भ भर सकना सम्भव माना जा सकता है कि वह स्वयं बृहस्पति से अधिक ज्ञानवान है ? जो भी हो, भारतीय परम्परा में ऐसी चीज एकदम अकल्पनीय है। इसके विपरीत, परम्परा तो यह है कि कोई जब अपने गुरु के विचारों की व्याख्या करते समय कोई नया विचार जोडना चाहता है, तब भी अनन्य और अडिग रूप से वह यही दर्शाना चाहता है कि कथित नया विचार, सूत्र रूप मे ही सही, गुरु की मौलिक शिक्षाओं में पहले से मौजूद है।

लेकिन चार्वाक मत के समर्थन में इस ग्रंथ के लिखे जाने की संभावना के मामले मे इससे भी कहीं ज्यादा गम्भीर कठिनाइयां हैं। देश की समूची दार्शनिक

परम्परा को पूरी तरह अपदस्थ किये बिना, भौतिकवादियों के सम्बंध में एक बात तो किसी को भी स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि कम से कम दो बातों के बारे में, जिनका खण्डन करने में उनके सभी विरोधियों ने कुछ भी उठा नहीं रखा, वे लोग गम्भीर थे। प्रथम, पदार्थ ही परम सत्य है ; द्वितीय, इन्द्रिय-बोध ज्ञान का सर्वाधिक अमोघ स्रोत है। विचाराधीन ग्रंथ में इन दोनों स्थितियों को नकारा गया है। हम पहले ही देख चुके हैं कि किस तरह प्रथम स्थिति को ग्रन्थ के आरम्भ में ही अस्वीकार कर दिया गया है। किन्तु द्वितीय स्थिति का अस्वीकरण कहीं अधिक रोचक है क्योंकि यह हमें सभी सम्भव दार्शनिक मतों के खण्डन की जयश्री भट्ट द्वारा प्रयुक्त तकनीक की जानकारी की ओर ले जाता है।

तो फिर, क्या है यह तकनीक ?

विविध दार्शनिक निष्कर्षों में से एक-एक पर प्रहार करने, जैसा कि संभवत: कोई भी ग्रंथ के शीर्षक को देख कर अपेक्षा करेगा, के बजाय जयश्री किसी प्रतिपादित तथ्य को सिद्ध करने की पद्धति को ही ध्वस्त करना चाहते हैं। अर्थात्, वह जिसे **प्रमाण**—यानी "जानकारी का स्रोत" या "जानकारी का आधार"—कहा जाता है, उसको ही ध्वस्त करना चाहते है। लगभग सम्पूर्ण ग्रंथ में वह यही दिखाना चाहते हैं कि **प्रमाण** की अवधारणा तक एक मिथ्या चीज है। इस बात को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो किसी दार्शनिक तथ्य को प्रस्थापित करने की अनिवार्य पूर्वशर्त ही खत्म हो जाती है। दूसरे शब्दों में, दर्शनवेत्ता-सिंह ने सभी संभावित दर्शनों को ध्वस्त कर दिया—क्योंकि, साफ बात है, कोई किसी तथ्य को प्रमाणित किये बिना उस पर गम्भीरता से डटे रहने का दावा ही नहीं कर सकता !

भारतीय दर्शनों में **प्रमाणों** के प्रति सर्वाधिक अविचल, निस्संदेह, न्याय-दर्शन था। तदनुसार इसका वैकल्पिक नाम **प्रमाणशास्त्र**, या अधिक सहज ढंग से कहें तो **प्रमाणों** के विवेचन का शास्त्र है। जयश्री के प्रहार का मुख्य निशाना स्वभावत: न्याय-दर्शन था। फिर, न्याय के अनुसार ज्ञान का आधार-भूत, या प्राथमिक, स्रोत इन्द्रिय-बोध है। फलत:, ज्ञान के वैध स्रोत के रूप में प्रत्यक्ष-अभिज्ञान के सभी भारी-भरकम दावों को जयश्री ध्वस्त कर देना चाहते हैं। यही इस बात का सबसे फैसलाकुन सबूत है कि उनका ग्रंथ किसी भी रूप में चार्वाक मत का ग्रंथ नहीं हो सकता क्योंकि चार्वाक मत के लगभग सभी विरोधी इस तथ्य का खण्डन करना चाहते थे कि प्रत्यक्ष-बोध ज्ञान का एकमात्र वैध स्रोत है। बेशक, हमारे लिए यह देखना जरूर शेष रह जाता है कि चार्वाक दर्शन का यह दावा करने में कि प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध को छोड़ सत्य का कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता या सच्चे ज्ञान का एकांतिक स्रोत प्रत्यक्ष इन्द्रिय-

बोध मात्र है, कहीं कोई अतिशयोक्ति तो नहीं। तथापि यह तथ्य अपनी जगह कायम है कि, जहां तक हमारी जानकारी है, प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध की वैधता के सशक्त समर्थन के बिना चार्वाक दर्शन की कल्पना तक नहीं की जा सकती। तब इस तथ्य को देखते हुए हम सोच ही कैसे सकते हैं कि प्रत्यक्ष इन्द्रियबोध के सत्य के एक संभावित स्रोत होने के विरुद्ध पुरजोश तरीके से तर्क-वितर्क करने वाला जयश्री का यह ग्रन्थ वास्तव में ही चार्वाक दर्शन का ग्रन्थ है?

ऐसा नहीं कि पंडित सुखलाल जैसे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान ऐसी सुप्रकट कठिनाई से कतई अनभिज्ञ रहे होंगे। अतएव, उनका दावा वास्तव में यह था कि जयश्रीकृत ग्रन्थ चार्वाक दर्शन के रूप में अन्यथा सुविदित चिन्तनधारा का ग्रन्थ नहीं था। उनका दावा किसी हद तक दरअसल यह है कि चार्वाक दर्शन की अब तक अज्ञात किसी समय कोई प्रशाखा रही होगी जो प्रत्यक्ष ज्ञान तक को वास्तविक सत्य का स्रोत नहीं मानती थी और जयश्री चार्वाक दर्शन की इसी अव्यक्त धारा के प्रतिनिधि रहे होंगे। जिन आधुनिक विद्वानों का यह दावा है कि जयश्री के ग्रन्थ की खोज से हमें आखिर सच्चे चार्वाक दर्शन का एक ग्रन्थ मिल गया है, उन्होंने पंडित सुखलाल जी के इस सतर्कतापूर्ण अनुमान की पूर्णतः उपेक्षा कर दी है। ए. एल. बशम तो यह दावा करने तक आगे बढ़ गये हैं कि प्राचीन भौतिकवाद पर यदि कोई ग्रंथ बच रहा है तो वह जयश्री का यह ग्रंथ ही है। इस तरह का निरर्थक दावा, स्वयं उक्त ग्रंथ से परिचय का द्योतक होना तो दूर (और, प्रसंगवश, उक्त ग्रंथ को समझ लेना कोई सहज कार्य नहीं), स्वयं पंडित सुखलाल जी के वास्तविक मन्तव्य से परिचय तक का द्योतक नहीं। भारतीय दर्शन पर कुछ लिखने का निश्चय ही यह सही तरीका नहीं है।

जयश्री के ग्रंथ की अपनी आलोचना को संभवतः हम यहीं समाप्त कर दे सकते थे—यदि एक और बात कहनी न रह गयी होती। सुखलाल जी की टिप्पणी में जयश्री के ग्रंथ को चार्वाक दर्शन की अब तक अज्ञात किसी अप्रकट धारा से जोड़ा गया है जिसमें सत्य के वैध स्रोत के रूप में प्रत्यक्षज्ञान को भी नकारा गया था। पंडित सुखलाल जी जैसे विश्रुत विद्वान को इस तरह की संभावना आखिर क्यों स्वीकार करनी पड़ी? जिस साक्ष्य पर उन्होंने भरोसा किया है वह जयश्री के ग्रंथ से बाहर का है, और किसी हद तक अटपटा भी है। आइए, हम इससे थोड़ा परिचित हो लें।

किसी सम्भव प्रमाण को वास्तव में अस्वीकार करने वाले भारतीय दार्शनिकों में थे—नागार्जुन, और उनके अनुयायियों जैसे वे चरम आदर्शवादी जिनका विचार शून्यवाद कहलाता है, तथा शंकर और उनके अनुयायी जिनका विचार अद्वैत वेदान्त के नाम से सुविदित है। प्रमाण मात्र को ध्वस्त करने के

लिए नागार्जुन ने स्वतंत्र रूप से ग्रंथ लिखे और शंकर ने तो अपने बृहद्‌ग्रंथ का आरम्भ ही इस दावे के साथ किया है कि तथाकथित समस्त "प्रमाण" अज्ञान पर आधारित हैं। लगभग बारहवीं सदी के शंकर के एक परवर्ती अनुयायी श्रीहर्ष ने एक बड़ा पांडित्यपूर्ण ग्रंथ लिखा **खण्डन-खण्ड-खाद्य**, यानी खण्डनों रूपी मिष्ठान। इस ग्रंथ का शुभारम्भ करते ही उनके सामने एक समस्या उठ खड़ी हुई : अद्वैत वेदान्त के समर्थन का बीड़ा कैसे उठा लिया जाय, जबकि यह दर्शन किसी चीज को सत्य के संज्ञान का वैध स्रोत मानता ही नहीं? इस प्रश्न का उन्होंने बड़ा वाग्मयतापूर्ण, यानी लफ्फाजीभरा, उत्तर दिया। लेकिन उनका मुद्दा यह था कि प्रमाण पर पूर्ण अविश्वास के मार्ग पर चल कर भी किसी दार्शनिक स्थिति का समर्थन किया जा सकता है। इसके उदाहरणों के रूप में नागार्जुन के शून्यवाद का, शंकर के अद्वैत वेदान्त का,और, विचित्र बात है, इनके साथ ही बृहस्पति के नाम का भी, हवाला दिया गया है। लेकिन नागार्जुन और शंकर के साथ एक ही सांस में बृहस्पति का नाम क्यों लिया गया जबकि यह सुविदित तथ्य है कि बृहस्पति के भौतिकवाद का मुख्य आधार आम तौर से यह दावा माना जाता है कि सत्य के अभिज्ञान का एकमात्र स्रोत प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध है? अधिकांश समीक्षाकारों का उत्तर है कि श्रीहर्ष का दरअसल तात्पर्य यह था कि दार्शनिक प्रयोजनों से किसी न किसी हद तक 'अनुमिति' पर निर्भर करना होता है, जिसकी वैधता को बृहस्पति के अनुयायी, अर्थात् भौतिकवादी, कथित रूप से अस्वीकार करते हैं। श्रीहर्ष के केवल एक मीमांसक शंकर मिश्र ने, अन्य समीक्षाओं की सामान्य धारा को नकारे बिना, ये शब्द और जोड़ दिये हैं : "या सम्भवतः चार्वाक दर्शन की कहीं कोई प्रशाखा रही होगी," जो प्रत्यक्ष-ज्ञान की वैधता को भी अस्वीकार करती थी। मुख्यतः इस संकेत पर भरोसा करके जयश्री के ग्रंथ के सम्पादक यह दावा कर बैठे कि यह ग्रंथ चार्वाक की उसी अप्रकट और अज्ञात प्रशाखा की व्याख्या है।

श्रीहर्ष के मात्र एक मीमांसक के एक अनायास कथन पर आधारित यह दावा स्पष्ट ही थोथा है। विशेषतः इसलिए कि यह हमसे इस बात को मान लेने का आग्रह करता है कि भारतीय दर्शनवेत्ताओं की समूची शृंखला मे अकेले एक शंकर मिश्र ही थे—इनकी गणना, सच कहें तो, अग्रणी विभूतियों में नही है—जिन्हें चार्वाक दर्शन की इस अप्रकट प्रशाखा के अस्तित्वमान होने की जानकारी थी; वह भी पता नहीं कहां!

दूसरी ओर, अधिक महत्वपूर्ण बात स्वयं श्रीहर्ष की स्वीकारोक्ति है जिसकी ओर से आंखें नहीं चुरायी जा सकतीं। नागार्जुन के शून्यवाद और शंकर के अद्वैत वेदान्त जैसे चरम आदर्शवाद को ही इस विचार के समर्थन में ज्ञान के सामान्य स्रोतों के दम्भपूर्ण दावे के खण्डन में दिलचस्पी थी कि परम सत्य—

आत्मा—ऐसे स्रोतों की समूची परिधि से परे है। तो क्या प्रत्यक्ष-ज्ञान, अनुमिति, आदि, जैसे सभी सामान्य सबूतों को ध्वस्त करने का जयश्री का समरूप उतावलापन चरम आदर्शवाद से उनकी असली सम्बद्धता का द्योतक है ? इस सिलसिले में यह याद रखना उचित होगा कि जयश्री ने यद्यपि भारतीय चिन्तन की अधिकांश प्रमुख धाराओं के खण्डन का बीड़ा उठाया था, अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध वह एक शब्द भी नहीं कहते। इसके अलावा, जयश्री के ग्रंथ के सम्पादक यह टिप्पणी करने से स्वयं को नहीं रोक पाते कि श्रीहर्षरचित **खण्डन-खण्ड-खाद्य**—जो पढ़ने में जटिल लेकिन अद्वैत वेदान्त का जबर्दस्त पृष्ठपोषक है—प्रायः ऐसा आभास प्रस्तुत करता है मानो इसके रचयिता के सामने जयश्री का ग्रंथ मौजूद रहा हो। इस सबसे लगता है कि भौतिकवादी होना तो बहुत दूर, जयश्री असल मे चरम आदर्शवाद मे सम्बद्ध थे।

लेकिन जो भी हो, जयश्री के ग्रंथ के प्रथम प्रकाशन से आधुनिक विद्वानो में जो सरगर्मी पैदा हुई थी, वह लगता है, अब ठंडी पड़ती जा रही है। गम्भीर विद्वान उसकी ओर अब अधिकाधिक चरम संशयवाद के एक ग्रंथ के रूप में देखते है। इस चरम संशयवाद का चरम आदर्शवाद से अन्तर, हमारे इस स्थूल जगत की दृष्टि से, पारिभाषिक मात्र है।

७. प्राचीन भौतिकवाद की पुनर्संरचना की समस्या

जयश्री भट्ट रचित **तत्वोपप्लव-सिंह** की खोज के बावजूद, समूचे तौर से देखने पर परिस्थिति पहले जैसी बनी हुई है। प्राचीन भारतीय भौतिकवाद का कोई भी ग्रंथ हमें उपलब्ध नहीं। तो हम उसकी विलुप्त गाथा की खोज की ओर किस तरह आगे बढ़ सकते है ?

इसके लिए हमारे सामने आज मुख्यतः तीन प्रकार की सामग्री उपस्थित है। यह इस प्रकार है :

(अ) **अर्थशास्त्र** जैसे हमारे कुछ प्राचीन ग्रंथों में जहां-तहां भौतिकवाद का उल्लेख।

(आ) इसके विरुद्ध इसके विरोधियों द्वारा तर्क-वितर्कों का तूफान, जो कि, प्रसंगवश, प्राचीन और रूढ़िवादी भारतीय दार्शनिकों का विशाल बहुमत है।

(इ) भौतिकवादियो की उक्तियों के कुछ अंश जो उनके विरोधियों की रचनाओं में जहां-तहां बच गये है, हालांकि इन अंशों को उद्धृत करने का मुख्य प्रयोजन यह दिखाना है कि यह दर्शन कितना उथला—या यहां तक कि निकृष्ट—था।

इनमें से प्रथम से, विषय पर प्राय: कुछ अप्रत्याशित प्रकाश पड़ता है। किन्तु, आगे बढ़ने में सुविधा की दृष्टि से हम इसे बाद में चर्चा के लिए रखना चाहेंगे। फिलहाल, हम बाद वाले दो स्रोतों पर कुछ बातें कहेंगे।

जहां तक भौतिकवाद के विरुद्ध तर्क-वितर्कों की बात है, यह स्मरण रखना तत्काल आवश्यक है कि भारतीय दर्शन में यह एक समय-सम्मत परम्परा रही है कि जिस मत का खण्डन किया जाना है, पहले उसका विवरण दे दिया जाय। इसे **पूर्वपक्ष**, यानी विरोधी का मत, कहते है। इसका आदर्श नमूना यह है कि खण्डित किये जाने वाले मत के समर्थन में जो कुछ कहा गया है—और यहां तक कि संभवत: जो कुछ कहा जा सकता है—प्रस्तुत कर दिया जाय। पहले उसे सभी सम्भावित श्रेय दो और तब उसे ध्वस्त करने की ओर बढो। यदि ऐसा किया जाता है तो विरोधी को पूर्ण पराजय स्वीकार करनी होगी। कार्य-वाही का यह आदर्श नमूना होने के कारण, भौतिकवाद के विरुद्ध तर्क-वितर्कों के ज्वार में हमें विविध विवरण मिलते हैं कि भौतिकवादी अपने विचार का किस तरह समर्थन करते हैं—अथवा यहां तक कि किस तरह संभवत: समर्थन कर सकते हैं। इस तरह, ये, निस्संदेह, भौतिकवादी स्थिति की हमारी जानकारी के एक स्रोत हैं। लेकिन ऐसे स्रोतों के प्रति बड़ी हद तक आलोचनात्मक साव-धानी बरतने की जरूरत है। मुख्यत: खण्डन के उद्‌देश्य से, भौतिकवादियों की स्थिति के प्रस्तुतीकरण में इसके विरोधी अविकल वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण नहीं अपनाते, और उनसे इसकी आशा भी नहीं की जा सकती। अपने विरोधियों के मत के वर्णन में वे बहुत-सी—भौंड़ी या बारीक—विकृतियां भी घुसेड़ दे सकते हैं, ताकि अन्तत: उसके खण्डन का काम अपेक्षतया सरल हो जाय। इस तरह, **पूर्वपक्ष** के रूप मे भौतिकवाद के वर्णन में—भारतीय दार्शनिक साहित्य में जिसके उदाहरण प्रचुर मात्रा में है—विकृतियों और अतिशयोक्तियों की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। अत:, अपनी समझदारी के लिए भौतिकवाद का कोई सच्चा विवरण निर्मित करने से पूर्व, तार्किक दृष्टि से, इनकी बारीकी से जांच की जरूरत होगी।

लेकिन यहां एक गम्भीर समस्या उठ खड़ी होती है। किस तरह हम इनकी बारीकी से जांच करें? कौन सी कसौटी संभव है? यह प्रश्न उठता ही नहीं यदि स्वयं भौतिकवाद का कोई पूर्व-अस्तित्वमान विचार हमारे सामने उपस्थित होता। तथापि, हमारा उद्‌देश्य स्वयं भौतिकवाद के विचार की पुनर्संरचना करना है। कारण यह कि इसके बिना हम विरोधियों द्वारा प्रस्तुत इसके स्वरूप की आलोचनात्मक दृष्टि से जांच-परख की बात ही कैसे कर सकते हैं? साथ ही, इसके विरोधियों को इसके बारे में जो कुछ कहना रहा है उसके प्रति पूर्ण उदासीनता का रवैया अपना लेने पर टुकड़ों-टुकड़ों में बिखरे

भौतिकवादी मत की पुनर्संरचना की बात उठानी संभव नहीं दीखती, क्योंकि उस दशा में हमारे सामने कुछ करने के लिए सामग्री नाममात्र को ही रह जायेगी। इसीलिए, हमारे सामने यह विचित्र संकट उपस्थित है ।

इस संकट के समाधान का एक उपाय सौभाग्यवश विरोधी लोग ही सुझा बैठे हैं। भौतिकवाद के स्वयं उनके वर्णन पूर्णतः समरूप नहीं हैं। विरोधियों द्वारा इसके विवरण में जहां भारी मात्रा में सहमति है वहां बड़ी मात्रा में असहमतियां भी हैं। सहमतियों का सतर्कतापूर्ण और आलोचनात्मक उपयोग हमारे लिए प्रारम्भ-विन्दु का काम कर सकता है ।

आगे बढ़ने की ऐसी विधि तभी फलप्रद सिद्ध हो सकती है जब इसके समर्थन में हमें कुछ आनुषंगिक साक्ष्य उपलब्ध हों। ऐसे साक्ष्य बहुत थोड़े हैं, लेकिन ऐसी बात नहीं कि इनका एकदम अभाव हो। कुछ साक्ष्य तो प्राचीन भौतिकवाद सम्बंधी जानकारी के जिस स्रोत का हमने प्रथम उल्लेख किया है—जैसे **अर्थशास्त्र** सदृश प्राचीन ग्रंथ—उनसे प्राप्त किये जा सकते हैं। लेकिन अधिक महत्वपूर्ण साक्ष्यों का जानकारी के तृतीय स्रोत से अधिक उत्तम उपयोग किया जाना अभी बाकी है। ये हैं विरोधियों द्वारा भौतिकवादी मत के यदा-कदा उद्धृत छिटपुट उदाहरण, हालांकि इन्हें प्रायः सिर्फ यह दिखाने के प्रयोजन से प्रस्तुत किया गया है कि यह मत कितना कुत्सित था। इस सुप्रकट उद्देश्य के बावजूद, इन उदाहरणों में अक्सर ही ऐसे तत्व मिल जाते हैं जिनमें अनोखी यथार्थपरकता की झलक मिलती है। ऐसा विशेषतः भौतिकवादियों की चारित्रिकता के रूप में उद्धृत **प्रामाणिक लोकगाथाएं** कही जाने वाली रचनाओं के, यानी प्रामाणिक लोकप्रिय छन्दों के, सम्बंध में है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, दार्शनिक अन्तर्वस्तु वाले कुछ लोकप्रिय छन्द इस समय तक बच रहे हैं। इन छन्दों के वास्तविक रचनाकारों के नाम अज्ञात है और इसीलिए इनको एक प्रकार की लोकोक्ति (**लोकगाथा**) मान बैठने की प्रवृत्ति है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में ये लोकोक्तियां पहुंचती रहीं। इसके अतिरिक्त, इनके उद्गम का सूत्र जब सुदूर अतीत में मिलता है तो इनमें एक किस्म की विलक्षण **प्रामाणिकता** का आभास होता है। इस तरह, जनजीवन की चेतना में सुदूर अतीत से अपनी जड़ें जमाये ये, विचाराधीन विषय के सन्दर्भ मे, काफी महत्वपूर्ण हैं—यदि और किसी कारण नहीं तो इसलिए तो अवश्य ही कि **लोकायत** शब्द इनके लोक-उद्भव और लोक-प्रचलन का द्योतक है। साथ ही, इनकी अन्तर्वस्तु प्रकट करती है कि ये छन्द कितने अप्रतिबंध रूप से भौतिकवादी थे।

भौतिकवाद के विरुद्ध अपनी तमाम कटूक्तियों के बावजूद, हम इस बात के लिए माधव के प्रति अत्यधिक आभारी हुए बिना नहीं रह सकते कि उन्होंने

भौतिकवादियों के कुछ सर्वाधिक महत्वपूर्ण लोकप्रिय प्रामाणिक छन्दों को एक जगह इकट्ठा कर दिया है। एक ही स्थान पर काफी मात्रा में इन्हें एकत्र कर देने के पीछे उनका अभीष्ट जो भी रहा हो, यदि उन्होंने प्रयास न किया होता तो ये छन्द संभवतः अब तक नष्ट हो गये होते। इस तरह, माधव के ग्रंथ में एक ऐसी चीज आ गयी है जिसे हम 'दार्शनिक तर्क-वितर्क का द्वन्द्ववाद' कह सकते हैं: उनका उद्देश्य निस्संदेह भौतिकवाद को नितांत गर्हित रूप में प्रस्तुत करना था, किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के क्रम में वह भौतिकवादियों के विचारों और कथनों के उदाहरणस्वरूप एक बहुमूल्य निधि हमारे लिए सुरक्षित छोड़ गये हैं।

वर्तमान चर्चा का समापन सबसे अच्छे रूप में संभवतः हम माधव के ग्रंथ से उक्त समूचे उद्धरणों को पेश करके कर सकते हैं। इनमें निहित तीक्ष्ण व्यंग्य को इनके अनुवाद में सुरक्षित रख सकना, निस्संदेह, असंभव है। लेकिन अनुवाद प्रस्तुत करने के सिवा दूसरा कोई चारा भी नहीं।[1]

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?

अर्थात्: जब तक जीवन है तब तक सुख से जिओ; ऐसा कोई नहीं जो मृत्यु से बचा रह सके। हमारी यह देह जब भस्म हो जाती है, तब इसका पुनः आगमन कहां ?

त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान्हितार्थी ?

अर्थात्: सुख का मनुष्यों को त्याग कर देना चाहिए क्योंकि उनकी उत्पत्ति विषयों के साथ होती है और ये दुःखों से भरे हैं—यह मूर्खों का विचार है। उजले और उत्तम दानों वाली धान की बालियों को कौन भला आदमी केवल इसलिए छोड़ देगा कि कणों के साथ भूसी भी है, बताइए तो ?

---

१. अंग्रेजी में कौवेल और गफ़ ने जिस रूप में इनका अनुवाद किया है, वही किंचित संशोधनों सहित, इस पुस्तक के अंग्रेजी संस्करण इन डिफेन्स आफ मैटीरियलिज्म इन एन्शियेंट इंडिया में प्रस्तुत हैं। —अ.

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ।।

अर्थात् : अग्निहोत्र, तीनों वेद, संन्यासी बन कर तीन काष्ठखंड लेना, शरीर पर भस्म पोत लेना—ये बुद्धि और पौरुष से रहित व्यक्तियों की जीविका के साधन हैं, बृहस्पति ऐसा कहते हैं ।

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः ।
चतुर्भ्यं खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ।।
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ।।
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः ।
मम देहोऽयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी ।।

अर्थात् : इस मत में चार तत्व हैं, भूमि, जल, अग्नि और वायु; केवल इन चार पदार्थों से ही चेतना की उत्पत्ति होती है—जिस प्रकार किण्व, आदि, द्रव्यों के मिश्रण से मदशक्ति उत्पन्न होती है; 'मैं मोटा हूं', 'मैं कृश हूं', ये गुण चूंकि मूल तत्व में निहित हैं, और मोटापा आदि का योग चूकि देह से ही है अतः यही आत्मा है, न कि कोई अन्य तत्व । 'मेरी देह' जैसी उक्तियों का केवल आलंकारिक महत्व है ।

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ।।

अर्थात् : अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, प्रातःकालीन बयार सुखद है; इनमें ये विविधताएं किसने उत्पन्न की ? इनके स्वभाव में ही इनकी व्यवस्था निहित है ।

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ।।

अर्थात् : न तो कोई स्वर्ग है, न मोक्ष, और न कोई पारलौकिक आत्मा: न वर्ण, आश्रम, आदि, की क्रियाएं ही फलदायक हैं ।

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता ।।

अर्थात : अग्निहोत्र, तीनों वेद, संन्यासी बन कर तीन काष्ठखंड लेना, शरीर पर भस्म लगाना—बुद्धि और पौरुष से रहित व्यक्तियों की जीविका के लिए प्रकृति ने ये साधन बनाये हैं ।

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ? ॥

अर्थात् : ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु यदि सीधे स्वर्ग जायेगा, तो यजमान स्वयं अपने पिता को इस तरह स्वर्ग क्यों नहीं पहुंचा देता ?

मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम् ।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिखाम् ॥
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेयकल्पनम् ।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथि तृप्तिरवारिता ॥

अर्थात् : मरे हुए प्राणियों को यदि श्राद्ध से तृप्ति मिल जाती है, तो बुझे हुए दीपक में तेल बढ़ा देने से वह जल उठना चाहिए; घर में किये गये श्राद्ध से ही यदि रास्ते में तृप्ति मिल जाती है, तो घर से दूर जाने वाले प्राणियों को पाथेय देना व्यर्थ होना चाहिए ।

स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।
प्रासादस्योपरिस्थानामत्र कस्मान्न दीयते ?

अर्थात् : यहां श्राद्ध करने से स्वर्ग में बैठे पितृगण यदि तृप्त हो जाते हैं, तो इसी प्रासाद में ऊपर बैठे लोगों की श्राद्ध द्वारा तृप्ति आप क्यों नहीं कर देते ?

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?

अर्थात् : जब तक जीवन है सुख से जियो, भले ही ऋण लेना पड़े—घी पियो; इस देह के भस्म हो जाने पर, इसका पुनः आगमन कहां ?

यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्माद् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ?
ततश्च जीवनोपायो ब्राह्मणैर्विहितस्त्विह ।
मृतानां प्रेतकार्याणि न त्वन्यद्विद्यते क्वचित् ॥

अर्थात् : यदि आत्मा शरीर से पृथक है और शरीर से निकल कर दूसरे लोक चली जाती है, तो बन्धुओं के स्नेह से व्याकुल होने पर वह लौट क्यों नहीं आती ? अतः यह सब ब्राह्मणों द्वारा गढ़ा गया जीविका का साधन मात्र है, मृत व्यक्तियों के सम्बंध में सारे मरणोत्तर कार्य इसके सिवा और कुछ नहीं ।

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ।

जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥

अर्थात् : वेद के तीन रचयिता भांड, धूर्त और निशाचर हैं; देखिए न, 'जर्भरी' 'तुर्फरी', आदि, पण्डितों की वाणी बतायी जाती है ![1]

अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम् ।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् ।
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ॥

अर्थात् : यहां अश्वमेध यज्ञ में घोड़े के लिंग को पत्नी द्वारा ग्रहण कराने का विधान है; यह सब ग्रहण कराने का विधान भांडों का कहा हुआ है; यज्ञ में मांस का खाना भी निशाचरों का कहा हुआ है ।

---

१. यहां संकेत ऋग्वेद की पंक्ति 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका' (१०-१०६-६) की ओर है —अ. ।

तीसरा अध्याय

प्रत्यक्षज्ञान की प्राथमिकता

१. प्राथमिक टिप्पणियां

अप्रतिबन्ध भौतिकवाद के विरुद्ध भारतीय दार्शनिक ग्रंथों में किये गये तर्क-वितर्क में मुख्यत: दो बातों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

पहली बात : भौतिकवादी, कथित रूप से, केवल प्रत्यक्षज्ञान को सत्य से साक्षात्कार का स्रोत स्वीकार करते हैं। इसका निहितार्थ यह बताया जाता है कि भौतिकवादी दृष्टिबिन्दु से, ज्ञान के सही तरीके के रूप में, अनुमिति को एकदम दरकिनार कर देना होता है। अनुमिति की वैधता की इस पूर्ण अस्वीकृति को अगर मंजूरी दे दी जाती है तो स्वयं दार्शनिक गतिविधि ही असंभव हो जायेगी, क्योंकि इस बात को मान बैठा गया है कि किसी दार्शनिक द्वारा किसी क्रियाकलाप का अनिवार्य उपकरण, स्पष्टत: ही, अनुमिति है। इस तरह, अनुमिति का पूर्णत: अस्वीकरण, भौतिकवादी को दार्शनिक कार्यक्षेत्र के निकट पहुंचने तक से रोक देता है।

दूसरी बात : एक दूसरा मुद्दा जिसको लेकर भौतिकवादियों की प्राय: ही आलोचना की जाती है, 'देहात्मवाद' कहा जाता है—अर्थात्, यह विचार कि हमारा भौतिक शरीर आत्मा के समरूप है। इसमें मुख्य आक्षेप यह लगाया जाता है कि यहां शरीर से परे किसी आत्मा के अस्तित्व तक से इन्कार किया जा रहा है। इस तरह के दृष्टिकोण को नितांत त्याज्य—और खतरनाक भी—केवल इस कारण नहीं बताया जाता कि इसमें मृत्यु के बाद किसी प्रकार की उत्तरजीविता न होने का अर्थ निहित होने से स्वर्ग और नरक की अवधारणा एक कपोलकल्पना मात्र रह जाती है, बल्कि इसलिए भी कि स्वयं मोक्ष की अवधारणा तक निराधार हो जाती है। तथ्य यह है कि भारत के अधिकांश दर्शन, कम से कम औपचारिक रूप से, जीवन के परम लक्ष्य के रूप में मोक्ष की अवधारणा से प्रतिबद्ध हैं। इसीलिए अन्य दर्शनवेत्ता, भौतिकवादियों के इस दावे को खण्डित करने के प्रयास में खून-पसीना एक कर देते हैं कि शरीर से परे कोई आत्मा नहीं है।

शरीर से आत्मा के अभिज्ञान के विचार को खण्डित करने के मामले में

भौतिकवादियों के विरोधी सचमुच कहां तक सफल हुए हैं, इसकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे। इस अध्याय में तो हम प्रत्यक्षज्ञान के महत्व सम्बंधी वास्तविक भौतिकवादी दृष्टिकोण पर ही विचार करेंगे। हमारा कहना है कि भौतिकवादी चिन्तक प्रत्यक्षज्ञान के महत्व पर बेशक बहुत बल देना चाहते थे—लेकिन उनके विरोधियों का यह दावा कि इस बात ने भौतिकवादियों को अनुमिति से प्राप्त संज्ञान को एकदम रद्द कर देने की हद तक पहुंचा दिया, अतिशयोक्ति प्रतीत होता है। यह उन्हें बदनाम करने की दुर्भावना से प्रेरित है। ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्य यह मालूम होता है कि भौतिकवादियों के मतानुसार प्रत्यक्षज्ञान सत्य से साक्षात्कार का सर्वाधिक आधारभूत, या कहिये कि सर्वाधिक अनिवार्य स्रोत था। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वे अनुमिति को एकदम अस्वीकार कर देना चाहते थे। सच तो यह है कि हमारे दैनंदिन जीवन में प्रत्यक्षज्ञान पर आधारित सामान्य अनुमिति से उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु, जहां प्रत्यक्षज्ञान को या तो सीधे-सीधे ठुकरा कर अथवा प्रत्यक्षज्ञान के किसी आधार के बिना ही अनुमिति का सहारा लिया जाता था, वहां भौतिकवादी इसे न केवल अस्वीकार करते थे, बल्कि उन्हें इसमें शोषण के उद्देश्यों से जनता से छलावा करने की मनोभावना भी दिखायी देती थी। संक्षेप में, भौतिकवादी स्थिति प्रत्यक्षज्ञान को प्राथमिकता देने की स्थिति रही है—ठीक वही स्थिति जो आम तौर से कुछ अन्य आदृत दर्शनवेत्ताओं की थी और यही स्थिति प्राचीन काल में प्रकृति-विज्ञान का, जिस हद तक भी वह विकसित हुआ, आधार भी थी। लेकिन भौतिकवादी मत को अनुमिति के पूर्णरूपेण अस्वीकरण के मत के रूप में प्रस्तुत करने में इसे बदनाम या निन्दित करने जैसा उद्देश्य ही निहित रहा है, क्योंकि इससे भौतिकवाद को खण्डित करने का काम किसी हद तक आसान हो जाता था। दो सुस्पष्ट उदाहरणों से हम आगे की चर्चा आरम्भ करेंगे।

२. जीवित रहने पर भी नरक

हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार नरक सिर्फ एक नहीं है, वरन् विविध प्रकार के हैं जिनमें से प्रत्येक के अलग-अलग नाम तथा उनकी चारित्रिक यातनाएं हैं। विधिनियामक और धर्मशास्त्रों के जबर्दस्त हिमायती मनु ने इक्कीस अलग-अलग नरक गिनाये हैं। मनु के टीकाकार कुल्लूक भट्ट का कहना है कि इन नरकों का अधिक विस्तृत विवरण जानने के लिए **मार्कण्डेय पुराण** को पढ़ना उपयोगी होगा। लेकिन शायद यहां उसकी जरूरत नहीं। स्वयं मनु ने विभिन्न नरकों की यातनाओं का जो वर्णन किया है वही किसी को भयाक्रांत कर देने

के लिए पर्याप्त है। इन नरकों में सब से बदतर है महानरक। उसमें स्वभावतः सभी प्रकार की यातनाओं का समावेश है।

लगभग नौवीं शताब्दी के एक प्रखर विद्वान व दर्शनवेत्ता वाचस्पति मिश्र का दावा है कि चार्वाक मतावलम्बी भौतिकवादी इसी महानरक में पड़ेंगे। इतना ही नहीं, जीते-जी ही वे इस महानरक की यातनाएं भोगेंगे। कारण यह कि भौतिकवादी दृष्टिकोण का गम्भीरता से पालन करने वालों के रहने के लिए दूसरा कोई स्थान है ही नहीं।

क्यों था यह मत इतना भ्रष्ट ? इस मत का दावा यह माना जाता था कि तात्कालिक इन्द्रिय-बोध को छोड़, ज्ञान का कोई दूसरा स्रोत नहीं हो सकता, और फलतः, अनुमिति किसी भी रूप में संज्ञान का स्रोत नहीं बन सकती। ऐसे विचार का गम्भीरता से अनुसरण करने वाला भौतिकवादी केवल 'पशुओं से भी अधिक पाशविक' जीवन बिता सकता है। पशु भी, स्वयं उनके ही आचरण के आधार पर देखा जाय, तो वास्तव में अनुमिति के किसी न किसी रूप का सहारा जरूर ही लेते हैं—मसलन, वे यह अनुमान लगा सकते हैं कि उनके लिए क्या लाभदायक और क्या नुकसानदेह है। इस तरह, पशु हरी घास वाले चरागाह की ओर आकर्षित होते हैं और कंटीले झाड़झंखाड़ों को छोड़ देते हैं। लेकिन भौतिकवादी, भले और बुरे के प्रश्न के प्रति लापरवाह होने के कारण, अनुमितिगत ज्ञान के प्रति कोई चेतनता नहीं दिखाता—उतनी भी नहीं जितनी पशुओं मे देखी जाती है। इसके अलावा, ध्वनियों के रूप में शब्द यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से गोचर है, तथापि ध्वनियों में अन्तर्निहित अर्थ को अनुमिति से ही जाना जा सकता है। इस तरह, अनुमिति के प्रति नितांत घृणा भाव रखने वाला भौतिकवादी, मूक पशु से भी गया-गुजरा है। भले और बुरे के बीच कतई कोई भेद न कर सकने वाले का ऐसा निकृष्ट जीवन, महानरक में बिताये जाने वाले जीवन से कतई बेहतर नहीं।

तो, यह थी वाचस्पति मिश्र की तर्कपद्धति। भौतिकवादी को महानरक का प्राणी बताना शैलीगत अभिव्यंजना रही हो सकती है। किन्तु पशुओं से भी अधिक पाशविक होने का भौतिकवादियों का विवरण उन्हें नितांत मूढ़ बताने के लिए ही माना जा सकता है। अनुमिति का अस्वीकरण इसका पक्का सबूत बताया गया है।

३. भौतिकवादियों द्वारा अनुमिति के अस्वीकरण का माधव द्वारा वर्णन

भौतिकवादियों द्वारा अनुमिति के अस्वीकरण का वाचस्पति मिश्र का विवरण यदि उन्हें निरा मूढ सिद्ध करने के लिए था, तो इसी का माधव द्वारा

वर्णन भौतिकवादियों की तर्क करने में चालाकी और धूर्तता की असामान्य क्षमता को इंगित करने वाला है। वाचस्पति की तरह माधव ने भी प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध पर भौतिकवादियों के बल को अनुमिति के प्रति उनकी पूर्ण उपेक्षा का चिह्न माना है। लेकिन इन्द्रिय-बोध पर बल को भौतिकवादी जिस रूप में तर्कसंगत बताते दिखाये गये हैं, वह माधव की दृष्टि में उनके तर्क चातुर्य और बौद्धिक छलबल का द्योतक है।

अनुमिति की सम्भावना को ही भौतिकवादी, कथित रूप में, जिस तरह अस्वीकारते हैं उसे समझने के लिए भारतीय तर्कशास्त्र की बारीकियों की मोटामोटी जानकारी जरूरी है। यहां हम इसे जितने भी सरल और संक्षिप्त रूप में बताना सम्भव हो सकता है, बताते हैं।

भारतीय दर्शनवेत्ताओं की सामान्य मान्यता के अनुसार एक सार्विक सम्बंध—जो किसी भी किस्म के विपरीत साक्ष्य के अभाव से परिपुष्ट हो—की जानकारी, अनुमिति के लिए एक अनिवार्य पूर्वशर्त है। इसे 'अनुमिति के आधार' (अर्थात् हेतु) और 'जिसका अनुमान किया गया' (अर्थात् साध्य) के बीच सार्विक सम्बंध माना जाता है। धुएं (हेतु) से अग्नि (साध्य) का अनुमान लगाया जाता है क्योंकि धुएं और अग्नि के बीच सार्विक सम्बंध पहले से स्थापित हो चुका है : जहां धुआं दिखायी देता है वहां आग जरूर होगी। और, इसके विपरीत साक्ष्य की—अर्थात् आग के बिना धुएं के अस्तित्व की—कहीं कोई जानकारी नही।

लेकिन माधव चार्वाकों को यह तर्क करने दर्शाते है कि इस तरह की दो वस्तुओं की साथ-साथ उपस्थिति का अभिज्ञान—विपरीत अभिज्ञान के अभाव से परिपुष्ट होने पर भी—सार्विक सम्बंध स्थापना के लिए, जो कि अनुमिति का मूलाधार है, पर्याप्त नही। इसके अतिरिक्त, इस बात का विश्वास होना जरूरी था कि उक्त सार्विक सम्बंध किसी शर्त (अर्थात् उपाधि) से बाधित नहीं होता। लेकिन ऐसा होना असंभव था। वास्तव में प्रकृति में दो प्रकार की शर्तें थीं—वे जो निश्चित ज्ञान की परिधि के भीतर है, और वे जो किसी संभावित संदेह की परिधि के बाहर नहीं हैं। अपने श्रेष्ठतम प्रयासों के द्वारा व्यक्ति संभावित ज्ञान की परिधि के भीतर की शर्त के प्रश्न का निश्चय ही समाहार कर सकता था; किन्तु हमारे संभावित ज्ञान की परिधि से बाहर की संदेहजन्य शर्त के उन्मूलन की बात प्रकटतः ही अर्थहीन थी। इस तरह, संक्षेप में, दो संघटनाओं के बीच सार्विक सम्बंध की जानकारी के लिए मनुष्य प्रयास भर कर सकता है, लेकिन कोई इस बात की गारंटी नही कर सकता कि यह निरुपाधि (शर्त-रहित) होगी। फलतः, कोई भी अनुमिति एकदम दोषहीन नहीं हो सकती।

भौतिकवादियों के नाम पर माधव द्वारा गढ़ा गया यह तर्क-अंश उससे कहीं ज्यादा बारीक और पेचीदा है, जितना कि इसकी ऊपर दी गयी मोटी रूप-रेखा से प्रकट होता है। लेकिन ऊपर जो कुछ कहा है उससे इस बात का कुछ अन्दाजा अवश्य लग सकता है कि माधव भौतिकवादियों को तार्किक छलकपट में किस कदर सिद्धहस्त दिखाना चाहते थे। और, इसकी तुलना भौतिकवादियों के नितांत मूढ़ होने के, दरअसल पशुओं से भी बदतर होने के, वाचस्पति मिश्र के वर्णन से की जा सकती है।

भौतिकवादियों के पूर्वोल्लिखित "प्रामाणिक लोकप्रिय छन्दों" को देखते हुए, उक्त दोनों वर्णन मनगढ़ंत मालूम होते हैं। भौतिकवादी संभवत: उतने मूढ़ नहीं थे जितने वाचस्पति मिश्र बताने की कोशिश करते हैं, न ही तार्किक विश्लेषण का बारीक प्रपंच रचने में उन्हें वैसी दिलचस्पी थी जैसी माधव ने बतायी है। इन छन्दों में हमें जो एक बात स्पष्ट दिखायी देती है वह यह कि वे लोग—खास कर पुरोहितों तथा अन्य लोगों के—कुछ दावों को प्रथमत: सीधे-सादे बोधगम्य तर्कों से खण्डित करना चाहते थे। ये दावे साधारण जनों को धोखा देने के लिए गढ़े गये थे, ताकि सुविधाप्राप्त वर्ग अपनी रोजी-रोटी कमाते रह सकें।

४. हरिभद्र, मणिभद्र और गुणरत्न

इस दृष्टि से देखने पर हरिभद्र जैसे जैन दर्शनवेत्ता और उनके भाष्यकार अपेक्षाकृत ज्यादा ईमानदार दिखायी देते हैं। उन्होंने यह बताने का प्रयास किया है कि भौतिकवादी अनुमिति पर आधारित ज्ञान को बहुत महत्व देने के पक्ष में नहीं थे, इस तरह का ज्ञान महज धोखाधड़ी से साधारण इन्सान को ठगने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। यह बड़ा ही दिलचस्प मुद्दा है और इसमें विलक्षण आधुनिकतावादी स्वर निहित है।

भारतीय दर्शन के षट्अंगों पर अपने बृहद ग्रंथ में हरिभद्र ने मूल लोकायत स्थिति को दो सहज श्लोकों में चित्रित करने का प्रयास किया है। मोटे तौर से इनका रूपान्तर इन शब्दों में किया जा सकता है :

"लोकायत दावा करते हैं कि देवताओं जैसी कोई विभूतियां नहीं और न ही ऐहिक जगत से छुटकारे के लिए मोक्ष जैसी कोई चीज है; न ही पाप और पुण्य तथा उनके परिणामों जैसी चीजें हैं। वास्तव में, केवल इस जगत का अस्तित्व है, वह भी जहां तक हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से हमें विदित है। हे प्रिय, जरा भेड़िये के पदचिह्नों पर दृष्टि डालो और तब देखो कि शास्त्रज्ञान का दम्भ भरने वाले क्या कहते हैं।"

आखिरी वाक्य किंचित रहस्यमय है और इसके स्पष्टीकरण की जरूरत है। अतएव, गुणरत्न और मणिभद्र इसके निहितार्थ को स्पष्ट कर देना चाहते थे।

गुणरत्न कहते हैं: इस संदर्भ में चार्वाक मतानुयायियों के बीच एक कहानी प्रचलित है। किसी समय एक व्यक्ति रहता था जो विचारों से पूर्णत: नास्तिक था। किन्तु उसकी पत्नी रूढ़िगत धर्मकर्मों को मानने वाली थी। उस व्यक्ति ने तमाम तर्कों का सहारा लेकर अपनी पत्नी का मत-परिवर्तन करना चाहा।

असफल होने पर, उसने एक चालाकी भरा उपाय सोच निकाला। मध्य रात्रि में वह अपनी पत्नी को नगर के बाहर ले गया और बोला: "नगर में ऐसे शास्त्रज्ञों की भरमार है जो अपने विचारों को ऐसे ज्ञान के आधार पर सही सिद्ध करना चाहते हैं जो प्रत्यक्षबोध पर आधारित नहीं होता। लेकिन मैं उनके ज्ञान की सीमाओं से तुम्हें परिचित करा दूंगा।" इतना कह कर उसने नगर-द्वार से लेकर नगर को पहुंचाने वाले मार्ग के सीमाबिन्दु तक धूल में भेड़िये के पदचिह्न बना दिये। इसके बाद, वे दोनों अपने घर लौट आये। अगले दिन प्रातःकाल, नगर के समस्त रूढ़िवादी प्रखर शास्त्रज्ञ पंडितों में चर्चा छिड़ गयी: "रात्रि में अवश्य कोई भेड़िया नगर में आया होगा, अन्यथा उसके पदचिन्ह कैसे बन जाते?" अब, नास्तिक ने उनकी ओर इशारा करते हुए अपनी पत्नी से कहा: "देखा न तुमने कि ये प्रकांड पंडित बिना सत्य को जाने हुए एक ही रट लगाये है। ऐसा ही ये लोग स्वर्ग आदि के बारे में भी करते हैं। स्वर्ग का लालच दिखा कर ये जनसाधारण को धोखा देते है और अनुमिति की बातें करके तथा शास्त्रज्ञान का ढोंग रच कर अपनी गोटी खरी करते हैं। इसलिए, इनकी बातों में विश्वास करने का कोई आधार नहीं।" इस तरह, पत्नी भी अन्तत: अपने पति की अनुगामिनी बन कर नास्तिक हो गयी।

दूसरे भाष्यकार मणिभद्र ने किंचित परिवर्तन सहित यही कहानी दोहरायी है। लेकिन वह अनुमिति के दर्शनेतर कार्य पर अधिक बल देते प्रतीत होते हैं—जैसे आत्मा, स्वर्ग, आदि को सिद्ध करने के लिए किये जाने वाले उसके उपयोग पर। अनुमिति, इस प्रकार के उपयोग के फलस्वरूप, जनसाधारण में धर्म के प्रति अंध-आस्था बैठा कर उनके शोषण का उपकरण बनी।

जनसाधारण में धर्म के प्रति अंध-आस्था बैठा कर उनके शोषण की बात विलक्षण आधुनिक पुट लिये हुए है। मणिभद्र के अनुसार, अनुमिति के प्रति चार्वाक मतानुयायियों की आपत्ति शोषण के उद्देश्यों से उसके इसी प्रकार के

दुरुपयोग के खतरे को लेकर थी। लेकिन क्या इससे यह अर्थ निकलता है कि भौतिकवादियों को अनुमिति से पूर्णरूपेण आपत्ति थी ?

५. पुरन्दर का साक्ष्य

इस प्रकार, हरिभद्र जैसे जैन दार्शनिकों तथा उनके भाष्यकारों ने जो कहा है, उससे शंका की एक रेखा बनी ही रह जाती है। हो सकता है कि अनुमिति को भौतिकवादी पूर्णरूपेण अस्वीकार न करना चाहते हों। उनका उद्देश्य आत्मा, स्वर्ग, आदि के—जो किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि से परे हैं—अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनुमिति के उपयोग, या अधिक सही कहें तो दुरुपयोग के विरुद्ध आपत्ति उठाना हो सकता था।

लेकिन तब, प्रतिदिन के प्रत्यक्षज्ञान के पीछे-पीछे चली आती अनुमिति के बारे में क्या कहा जायगा ? क्या भौतिकवादियों को ऐसी अनुमितियों से कोई आपत्ति नहीं थी ? उनके लोकप्रिय प्रामाणिक छन्दों से तो आभास मिलता है कि भौतिकवादी अपनी व्यंग्य रचनाओं के समर्थन में स्वयं भी अनुमितियों का उपयोग करते थे—यद्यपि भारतीय तर्कशास्त्र की मानक पद्धति के अनुरूप उन्हें सूत्रित किये बिना ! अगर यज्ञ में बलि चढ़ाया गया पशु सीधे स्वर्ग पहुंचता है तो आप अपने पिता को क्यों इस सुयोग से वंचित करते हैं ? क्या अनुमिति की प्रक्रिया को अपनाये बिना, कोई इस तरह तर्क कर सकता था ? स्पष्ट ही, नहीं। कारण यह कि कोई निहित अनुमितिगत प्रक्रिया ही इस तरह के तर्क का आधार बन सकती है। इस निहित अनुमिति को प्रकट स्वरूप देने में अवश्य ही कोई कठिनाई नहीं : "यज्ञ में बलि किये गये सभी प्राणी सीधे स्वर्ग पहुंचते हैं; आपके पिता भी एक प्राणी हैं; अतएव यज्ञ में बलि किये जाने पर आपके पिता भी स्वर्ग पहुंचेंगे।" इस तरह की अनुमिति के आधार पर ही, उक्त भौतिकवादियों की व्यंग्य-रचना का कोई अर्थ हो सकता है। इसके बिना व्यंग्य अर्थहीन बन कर रह जाता है। अतः, संभावना यह है कि अनुमिति के सम्बंध में जो विचार बहुधा भौतिकवादियों के मत्थे मढ़ा जाता है और भौतिकवादियों के विरोधी जिसका खण्डन करने में जमीन-आसमान के कुलाबे एक कर देते हैं, वह बहुत-कर, एक अतिशयोक्ति है। **अतएव, भौतिकवादियों का विचार यह रहा हो सकता है कि अनुमिति का स्वयं अपने आप में अस्वीकरण नहीं किया जाना चाहिए; जिस चीज का अस्वीकरण किया जाना है वह बिना किसी तरह के प्रत्यक्षबोध की संगति के, किसी भी चीज को सिद्ध करने का अनुमिति का भारीभरकम दावा मात्र है।**

यह सोचने के लिए हमारे पास कुछ निश्चित साक्ष्य अवशिष्ट रह गये हैं कि

भौतिकवादियों की वास्तविक स्थिति संभवतः वही थी जो हमने ऊपर बतायी है। शांतरक्षित के ग्रन्थ की अपनी मीमांसा में कमलशील एक भौतिकवादी के नाम का उल्लेख करते हैं। यह नाम है—पुरन्दर। अन्य लोगों ने भी चार्वाक मत के भाष्यकार के रूप में इस नाम का उल्लेख किया है। कमलशील कहते हैं: "तथापि, पुरन्दर के अनुसार चार्वाक मतानुयायी भी अनुमिति को प्रचलित रूप में ग्रहण करते हैं; चार्वाक मतानुयायी जिस चीज को ठुकराते हैं वह सामान्य जीवन के पथ का अतिक्रमण करके अनुमिति का प्रयोग करने की प्रवृत्ति है।" एस. एन. दासगुप्ता ने दर्शाया है कि चार्वाक मतानुयायियों की यह स्थिति जैन तर्कवाचस्पति वादिदेव सूरि के एक वक्तव्य के एकदम अनुरूप है। और इस रूप में समझने पर, चार्वाक स्थिति के मुख्य बिन्दु को निम्नलिखित रूप में निरूपित किया जा सकता है :

"तथापि, चार्वाक मतानुयायी पुरन्दर (संभवतः ७वीं शताब्दी) जहां भी प्रत्यक्ष-बोध उपलब्ध हो, ऐहिक जगत की वस्तुओं की प्रकृति को निर्धारित करने में अनुमिति की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके मतानुसार अनुभवातीत जगत, अथवा मरणोपरान्त जीवन, या सामान्य प्रत्यक्षानुभव को अनुपलब्ध कर्म से जुड़े किन्हीं नियमों सम्बन्धी किसी मतवाद को स्थापित करने के लिए अनुमिति का उपयोग नहीं किया जा सकता। रोजमर्रा के व्यावहारिक जीवन के अपने अनुभव पर आधारित अनुमिति की अर्थवत्ता, और अनुभव से परे लोकोत्तर सत्यों की पुष्टि के लिए अनुमिति की अर्थवत्ता के बीच इस प्रकार के अन्तर के समर्थन का मुख्य कारण यह है कि कोई अनुमितिगत सामान्यीकरण, समानता की एक साथ बड़ी संख्या में उपस्थिति अथवा एक साथ अनुपस्थिति देख कर किया जाता है, जबकि लोकोत्तर जगत के बारे मे समानता की ऐसी कोई उपस्थिति नहीं देखी जा सकती, क्योंकि यदि कहीं ऐसा जगत है भी तो वह इन्द्रिय-बोध से परे है। इस तरह, परिकल्पित अनुभवातीत लोकोत्तर जगत में साध्य की उपस्थिति के साथ समानता का कोई हेतु नहीं देखा जा सकता। अतः ऐसे जगत के सम्बंध में कोई अनुमितिगत सामान्यीकरण अथवा सहवर्तिता का नियम नहीं निरूपित किया जा सकता।"

अगर हम ऊपर कही बात को स्वीकार कर लेते हैं, तो भौतिकवादी स्थिति समझ में आने वाली चीज बन जाती है। जो भी हो, इससे यह बात तो साफ हो ही जाती है कि ज्ञान के एक स्रोत के रूप में अनुमिति को अस्वीकार करने की जो बात चार्वाक मतावलम्बियों के बारे मे कही जाती है, वह जानबूझ कर किया गया एक विकृतीकरण है ताकि इस मत का खण्डन करना किसी हद तक आसान हो जाय।

६. जयंत भट्ट का कथन क्या है?

जयंत भट्ट लगभग ९वीं सदी में न्याय-वैशेषिक दर्शन के एक सुविख्यात प्रतिनिधि थे। न्यायमंजरी नामक उनकी रचना निस्संदेह भारतीय दर्शनशास्त्र के गौरव ग्रन्थों में से एक है और इसकी साहित्यिक शैली के लिए उचित ही प्रायः इसकी सराहना की जाती है। तथापि, यह ग्रन्थ हमारे सामने कई समस्याएं उपस्थित कर देता है। विशेषकर, यह समझ पाना कठिन है कि ज्ञान के स्रोतों के सम्बंध में वास्तविक भौतिकवादी मत के बारे में ग्रन्थ क्या दर्शाना चाहता है।

ग्रंथ में एक स्थान पर यह स्पष्ट घोषणा मिलती है कि चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्षबोध ज्ञान का एकमात्र और एकांतिक स्रोत है। इसी ग्रंथ में एक दूसरे स्थान पर यह पढ़ने को मिलता है कि धूर्त चार्वाक घोषित करता है कि ज्ञान के स्रोतों की कोई संख्या और परिभाषा नहीं हो सकती। स्वभावतः, यह वक्तव्य पहले कही गयी बात के एकदम विपरीत है।

इसके अलावा, यह समझ पाना कठिन है कि जयन्त भट्ट का सचमुच तात्पर्य क्या है। उनके भाष्यकार चक्रधर ने हमें इसका अर्थ यह बताने की कोशिश की है कि—सत्य के ज्ञान का कोई स्रोत नहीं है। इस तरह की समझदारी हमें सहज ही नागार्जुन, शंकर और जयश्री भट्ट के विचार की याद दिलाती है, हालांकि चक्रधर के अनुसार, उक्त विचार उद्भट—शब्दशः "विचित्र व्यक्ति"—नामक व्यक्ति का गढा हुआ है। लेकिन हमारी कठिनाई की यहीं इतिश्री नहीं हो जाती। दर्शन की विभिन्न धाराओं में स्वीकृत ज्ञान के स्रोतों की संख्या के वर्णन के सन्दर्भ में जयंत भट्ट के इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि सुशिक्षित चार्वाक के अनुसार ज्ञान के स्रोतों की संख्या के बारे में कोई नियम नहीं है। इसका ठीक-ठाक अर्थ क्या है, यह समझ पाना कठिन है हालांकि, भाष्यकार के अनुसार, स्वयं यह विचार उसी उद्भट का अनोखा आविष्कार है! तो भी, चार्वाक के लिए धूर्त अथवा "चालाक" विशेषण के प्रयोग के विपरीत, यहां जयंत भटट की सुशिक्षित चार्वाक व्यंजना ने, आधुनिक विद्वानों में किसी हद तक एक विचित्र सिद्धान्त-निरूपण की प्रवृत्ति भड़का दी है। इस तरह के सिद्धान्त-निरूपण का मुख्य आधार यह है कि, एक नितांत भिन्न संदर्भ में, जयंत ने—हालांकि बिना चार्वाक नाम का उल्लेख किये—कहा है कि : सुशिक्षिततराः अर्थात् "अधिक प्रतिभासम्पन्नों" के अनुसार जहां धुआ वहां अग्नि जैसी दैनिक अनुमितियों की वैधता से कोई कैसे इन्कार कर सकता है? शंका तभी उत्पन्न होती है जब आत्मा, ईश्वर,

लोकोत्तर जगत (यानी, स्वर्ग और नरक) जैसी अनुमिति का प्रश्न सामने आता है जिन्हें बुद्धिमान लोग अस्वीकार करते हैं।

जयन्त के इस तरह के कथनों के आधार पर—और एकमात्र इस आधार पर ही—आधुनिक विद्वानों ने चार्वाक की दो शाखाएं होने के सिद्धान्त का निरूपण कर डाला है: एक धूर्त चार्वाक की शाखा, दूसरी सुशिक्षित चार्वाक की शाखा। प्रथम, केवल प्रत्यक्षबोध की वैधता को मानने वाली, जबकि दूसरी धुएं से अग्नि के बोध की तरह सामान्य दैनिक अनुमिति की वैधता को भी स्वीकार करने वाली। लेकिन ऐसे सिद्धांत के बारे में कठिनाइयां हैं। धुएं से अग्नि जैसी दिन-प्रति-दिन की सामान्य अनुमिति को स्वीकारने की बाद वाली स्थिति, पुरन्दर ने जो कुछ चार्वाक की वास्तविक स्थिति के बारे में—बिना इस या उस शाखा के बीच अन्तर किये—कहा है, उसका स्मरण कराती है। दूसरे, सुशिक्षिततराः अथवा "अधिक प्रतिभासम्पन्नों" को सामान्य दैनिक अनुमिति स्वीकारने वाला बताते समय स्वयं जयंत ने किसी नाम का उल्लेख नहीं किया है। फलतः, यह धारणा बना लेना कि जयंत किसी विशिष्ट चार्वाक शाखा—सुशिक्षित चार्वाक शाखा—का जिक्र कर रहे थे, कदाचित निराधार प्रतीत होती है।

दूसरे, एम. के. गंगोपाध्याय ने जैसा कि बहुत विश्वसनीय रूप से दर्शाया है, इस संदर्भ में जयंत द्वारा उद्धृत जो अधिकांश छंद उक्त चार्वाक स्थिति के उदाहरणस्वरूप दिये गये हैं, वे वैयाकरण कवि भर्तृहरि के हैं जिन्हें सुशिक्षित चार्वाक मान बैठना बड़ी ही विचित्र बात होगी। इस प्रकार, इस सिद्धांत-निरूपण के लिए कि चार्वाक की दो शाखाएं थीं—एक अनुमिति को पूर्णतः अस्वीकार करने वाली और दूसरी उसे सीमित अर्थों में स्वीकार करने वाली—कोई आधार नहीं है, भले ही आधुनिक विद्वानों में यह धारणा कितनी ही प्रचलित क्यों न हो और जयंत भट्ट ने चार्वाक के बारे में जो विविध बातें कही हैं उनमें मेल बैठाने में कितनी ही कठिनाई क्यों न हो।

७. अर्थशास्त्र का साक्ष्य

लेकिन आइए, हम फिर उसी विषय पर लौट चलें जिसकी चर्चा हम कर रहे थे। यह दावा करना, कम से कम ऐतिहासिक दृष्टि से, कहां तक सही है कि भौतिकवादी लोग अनुमिति की वैधता को पूर्णतः ठुकरा कर प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध को ही ज्ञान का एकांतिक वैध स्रोत मानते थे? संभवतः, इस प्रश्न का सबसे निर्णायक उत्तर **अर्थशास्त्र** में मौजूद है जो कि मोटे तौर पर ईसा पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी की रचना बतायी जाती है। निस्संदेह, यह मूलतः

राजनीतिक दर्शनशास्त्र का ग्रंथ है। तथापि, आधुनिक विद्वानों में जैकोबी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने इस तथ्य की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया है कि भारतीय दार्शनिक परिस्थिति की व्यवस्थित जानकारी देने वाला यही सबसे पहला ग्रंथ है।

सर्वप्रथम, हम कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में प्राचीन भारत की दार्शनिक परिस्थिति पर प्रकाश डालने वाले तथ्यों का संक्षेप में उल्लेख कर देते हैं।

ग्रंथ के प्रारम्भिक भाग में ज्ञान की शाखाओं के प्रश्न का विवेचन है। किसी भी राजा के लिए इन शाखाओं में पारंगत होना जरूरी था। इस मामले में, हमें पता चलता है, सभी प्राचीन आचार्य एकमत थे। इसीलिए प्रारम्भिक भाग में विचारों की किंचित व्यापक श्रेणी का उल्लेख मिलता है। इनमें से हम मुख्यतः दो का जिक्र करेंगे; यानी स्वयं कौटिल्य के विचार का और उस विचार का जिसे वह मनु के अनुयायियों का विचार बताते हैं।

स्वयं कौटिल्य के विचार से, राजा को ज्ञान की चार शाखाओं में दक्षता प्राप्त होनी चाहिए। ये संस्कृत शब्दों में इस प्रकार हैं: **अन्वीक्षिकी**, **त्रयी**, **वार्त्ता** और **दण्डनीति**। मनु के अनुयायियों के अनुसार, इनमें से प्रथम के पृथक रूप से उल्लेख की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि इसकी अन्तर्वस्तु द्वितीय में अन्तर्निहित है।

अतएव, उनके मतानुसार ज्ञान की केवल तीन शाखाएं थीं—**त्रयी**, **वार्त्ता** और **दण्डनीति**। पर इनका मतलब क्या है? अन्तिम तीनों का मतलब समझाने में कोई कठिनाई नहीं। **वार्त्ता** का अर्थ है कृषि, पशुपालन और व्यापार—उस समय की अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित चीजें। **दण्डनीति** का अर्थ है जनता पर शासन चलाने की पद्धति—प्राचीन भारत में सम्राटाश्रयी राजनीति के समतुल्य चीज। **त्रयी** का शब्दिक अर्थ है "तीन", जिसका तात्पर्य तीन वेदों के ज्ञान से है क्योंकि उन दिनों तीन वेदों को ही स्वीकृति देने की प्रवृत्ति थी, अर्थात् **अथर्ववेद** को छोड़ दिया जाता था। तब, **अन्वीक्षिकी** का अर्थ क्या है? परवर्ती काल में, इसे तर्कशास्त्र के समकक्ष माना गया, यद्यपि कौटिल्य, इस भाव को सुरक्षित रखते हुए, इसे एकदम तर्क-आधारित अथवा युक्तियुक्त दर्शनों की व्यापक संज्ञा देना चाहते हैं, क्योंकि अगले ही वाक्य में वह घोषित करते हैं कि ऐसे दर्शनों के **तीन—और केवल तीन**—रूप मौजूद हैं, अर्थात् सांख्य, योग और लोकायत। दार्शनिक परम्परा में पारंगत कुप्पुस्वामी शास्त्री और फणिभूषण तर्कवागीश जैसे प्रख्यात विद्वान पहले ही दर्शा चुके हैं कि एक प्राचीन परिपाटी के अनुसार वास्तव में 'योग' से आशय न्याय-वैशेषिक दर्शन से था, और कौटिल्य ने संभवतः इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया था। इस व्याख्या को स्वीकार कर लेने पर, जो किसी हद तक अपरिहार्य प्रतीत

होती है, तर्क-आधारित दर्शनों के केवल तीन रूप रह जाते हैं—सांख्य, न्याय-वैशेषिक और लोकायत।

तो भी, शब्द **अन्वीक्षिकी** के बारे में अभी कुछ कहना शेष रह जाता है। यह शब्द अनु+ईक्षा से बना है, जिसमें अनु का अर्थ है "बाद" और ईक्षा का "ज्ञान"। इस तरह **अन्वीक्षिकी** का शब्दशः अर्थ हुआ "बाद का ज्ञान"। लेकिन ठीक यही अर्थ अनुमिति के लिए अत्यधिक प्रचलित शब्द—अर्थात् **अनुमान**—का है, जो **अनु** (बाद) + **मान** (ज्ञान) से बना है। इस तरह, भारतीय परम्परा में **अन्वीक्षिकी** और **अनुमान** परस्पर विनिमेय शब्द हैं, जिनमें से दोनों का अर्थ "बाद का ज्ञान" है, और इन दोनों से अनुमिति का तात्पर्य है। भारतीय न्यायशास्त्र में अनुमिति एक अत्यधिक महत्वपूर्ण विषय रहने के कारण, शब्द अन्वीक्षिकी में भी तर्कयुक्तता का सामान्य भाव जुड़ गया।

इस सब से एक सहज बात सामने आती है। भारतीय दार्शनिक विचारों की जो सर्वप्रथम गणना हमारे सामने उपस्थित है, उनमें तीन, और विशिष्टतः तीन ही, दर्शन ऐसे है जिन्हें पूर्णतः युक्तियुक्त अथवा तर्क-आधारित—या, अधिक निश्चित रूप में कहें तो अनुमिति-आधारित—माना जा सकता है।

ये हैं सांख्य, योग (अर्थात न्याय-वैशेषिक) और लोकायत। इस दृष्टि से देखने पर, परवर्ती दार्शनिकों के दावे पर भला कितना भरोसा किया जा सकता है जो यह सिद्ध करने के लिए दलीलों पर दलीलें थोपते गये कि लोकायत—जो कि भौतिकवादी दर्शन का ही एक प्रारम्भिक नाम है—अनुमिति की वैधता को अस्वीकार करता था? उक्त प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है। और यह उत्तर नकारात्मक होगा। लोकायत पर अनुमिति के पूर्णतः अस्वीकरण का जो बाद में आरोप लगाया गया, वह मात्र उसे बदनाम करने के लिए था—न कि किसी ऐतिहासिक सच्चाई का उल्लेख।

इस मुद्दे पर अपनी बहस को हम यहां समाप्त कर सकते थे, किन्तु दो बातों का स्पष्टीकरण कर देना जरूरी लगता है। इनमें से पहली का सम्बन्ध कौटिल्य और "मनु के अनुयायियों" के बीच विवाद के मुख्य विषय से है। "मनु के अनुयायी" **अन्वीक्षिकी** का पृथक अस्तित्व स्वीकार करने को तैयार नहीं थे और दावा करते थे कि इसमें जो भी तथ्य की चीज है वह **त्रयी** में मौजूद है। दूसरी बात यह कि—अनुमिति के लिए अनुमान या **अन्वीक्षिकी** शब्द क्यों, जिनका सीधा अर्थ है "बाद का ज्ञान"?

"मनु के अनुयायियों" से तात्पर्य सम्भवतः विधि-नियामकों के वर्ग से है जिनके विचार आगे चल कर **मनुस्मृति** के रूप में सूत्रबद्ध हुए। सदियों तक **मनुस्मृति** सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्राचीन भारतीय विधि-संहिता रही है। मनु के

बनाये नियमों में एक बात बार-बार दोहरायी गयी है। यह है : स्वतंत्र चिन्तन की, या ज्ञान की एक स्वायत्त शाखा के रूप में, जिसे आगे चल कर तर्कशास्त्र कहा जाने लगा, उसकी पूर्णतः अवांछनीयता। स्वतंत्र चिन्तन के विपरीत, मनु आस्था के सामने पूर्ण आत्मसमर्पण का आदेश देते हैं। इस आस्था से, ठोस रूप में, उनका तात्पर्य वेदों या धर्मशास्त्रों में आस्था से है। तर्क को, स्पष्ट ही, इस लिए अवांछनीय माना गया क्योंकि यह धर्मशास्त्रों द्वारा निर्देशित कर्मकाण्डों पर बेढंगे प्रश्न उठाये जाने को प्रोत्साहित करता था तथा धर्मशास्त्रों द्वारा वर्जित बातों के बारे में, साथ ही आत्मा और उसकी मुक्ति सम्बंधी बातों के बारे में भी—जिन्हें धर्मशास्त्रों का दार्शनिक सारतत्व माना जाता रहा—अप्रिय सवालों को प्रोत्साहित करता था। तो भी, मनु तर्क को कुछ सीमित छूट देने को तैयार थे, यानी उस हद तक जिस हद तक कि वह आत्मा और उसकी मुक्ति सम्बंधी विचार को युक्तियुक्त बता सकने में मदद करे। शायद इसी कारण-वश कौटिल्य को कहना पड़ा कि मनु के अनुयायियों के अनुसार तर्कशास्त्र में जो भी तत्व की चीज है वह पहले से ही शास्त्रों-पुराणों में मौजूद है, या, कौटिल्य के ही शब्दों को दोहरायें तो—अन्वीक्षिकी पहले से ही त्रयी में विद्यमान है।

लेकिन कौटिल्य इससे सहमत नहीं थे। वह तर्कशास्त्र की स्वतंत्र भूमिका को मान्यता देने पर बल देते हैं और राजाओं की शिक्षा के लिए निर्धारित ज्ञान की शाखाओं में उसे सर्वोच्च महत्व तक प्रदान करते हैं। इसके साथ ही, यह निश्चित रूप से गलत होगा कि हम, आज के अपने अर्थों में, कौटिल्य को अप्रतिबंध तर्कानुयायी (रेशनलिस्ट) मान बैठें। सच तो यह है कि कौटिल्य राजाओं की निरंकुश सत्ता के एकदम कट्टर समर्थक थे और राज्य को पूरी तरह नियंत्रण में रखने के लिए राजाओं द्वारा अन्धविश्वासों का खुल कर उपयोग किये जाने की सिफारिश करने तक में नहीं हिचकिचाते थे। डा. रामशरण शर्मा ने विस्तार से इस पहलू पर प्रकाश डाला है। तो फिर, युक्तियुक्तता के लिए कौटिल्य का असाधारण उत्साह क्यों? इसका एक ही उत्तर जो अर्थशास्त्र की समूची अन्तर्वस्तु को देखते हुए उचित प्रतीत होता है, यह है कि कौटिल्य को यथार्थपरकता के प्रति जबर्दस्त आग्रह था। राजा का तर्कशास्त्र में—और यहां तक कि भौतिकवादी दर्शन में—पारंगत होना इसलिए जरूरी था क्योंकि इससे जनता के शोषण के श्रेष्ठतम उपाय सोच सकने में उसे सहायता मिलती थी। मस्तिष्क के तर्कोन्मुख न होने पर, केवल आध्यात्मिकता की तरंगों में बहने पर, इस बात का खतरा था कि राजा पर्याप्त रूप से यथार्थपरक नहीं होगा, या फिर स्वयं अपने भौतिक हितों के प्रति उसमें पर्याप्त चेतनता नहीं रहेगी। यहां यह स्मरण रखना जरूरी है कि तर्कशास्त्र के औचित्य का कौटिल्य ने

जिस संदर्भ में समर्थन किया है वह राजा की शिक्षा का संदर्भ है, न कि सर्व-साधारण की शिक्षा का।

लेकिन इस सब पर और अधिक चर्चा राजनीति और दर्शन सम्बंधी अध्याय में की जायगी। इस समय तो एक अन्य बात का स्पष्टीकरण कर देना जरूरी है। विलक्षण शब्द **अन्वीक्षिकी** या **अनुमान**—जिन दोनों का ही अर्थ "बाद का ज्ञान" है—भारतीय दर्शन में "अनुमिति" के निकटतम समतुल्य क्यों बने? अनुमितिगत ज्ञान से पहले स्वभावतः कोई अन्य ज्ञान होना जरूरी है। दूसरे शब्दों में, इस संदर्भ में "बाद"—अनु—से क्या तात्पर्य है? भारतीय संदर्भ में, इसका सीधा-सादा तात्पर्य प्रत्यक्ष-बोध अथवा प्रत्यक्षज्ञान से है। अनुमिति से पहले प्रत्यक्षबोध का होना आवश्यक है। यह बात बड़े ही साफ शब्दों में चिकित्सा सम्बंधी प्राचीन ग्रन्थ **चरक-संहिता** में कही गयी है जिसमें अनुमिति को परिभाषित करते हुए "प्रत्यक्षज्ञान द्वारा पूर्वनिर्देशित" शब्दों का प्रयोग किया गया है। भारतीय तर्कशास्त्र के मौलिक ग्रन्थ **न्याय-सूत्र** में भी यही बात कही गयी है और वहां इस बात का विस्तृत विवेचन है कि क्यों प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध पर निर्भर हुए बिना वैध अनुमिति संभव नहीं है।

इन सब बातों के विस्तार में जाये बिना, हम अपने आप से एक सवाल पूछ सकते हैं। प्रत्यक्षज्ञान और अनुमिति के बारे में **चरक-संहिता** और **न्याय-सूत्र** में प्रस्तुत मानक समझदारी तथा विभिन्न स्रोतों से भौतिकवादियों के तत्संबंधी दृष्टिकोण में, जिसे हमने ढूंढ निकालने की कोशिश की है, वास्तव में कितना अन्तर—यदि कोई अन्तर हो तो—है?

यह बात, निस्संदेह, एकदम स्पष्ट है कि सच्चे ज्ञान का प्राथमिक स्रोत प्रत्यक्षज्ञान है। लेकिन, प्रत्यक्षज्ञान की प्राथमिकता का समर्थन करने में क्या भौतिकवादी इस सीमा तक पहुंच गये कि अनुमिति को एकदम अस्वीकार कर देते? भौतिकवाद के अधिकांश विरोधी हमसे ठीक यही मनवाना चाहते हैं। लेकिन हमने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि इस तरह का विचार बहुत कर या तो निरी अतिशयोक्ति है, अथवा सुविचारित रूप से थोपा गया लांछन मात्र। इसके विपरीत, तथ्य यह प्रतीत होता है कि भौतिकवादी लोग हमारे दैनंदिन जीवन की सामान्य अनुमिति को वैध मानते थे। किन्तु आत्मा या परलोक संबंधी किसी अनुमिति की संभावना का वे दृढ़ता से प्रतिकार करते थे—और यह इस बिना पर कि इसके लिए प्रत्यक्षज्ञान का कोई आधार नहीं है। यदि भौतिक-वादियों की यही वास्तविक स्थिति थी, तो चार्वाकों और लोकायतों की चर्चा करते समय जिस सहज ढंग से इसे दरकिनार कर दिया जाता है, वह निराधार होगा। इससे उलट, तथ्य यह प्रतीत होता है कि भौतिकवादियों के दावे में बहुत

कुछ सारगर्भित था। इसके साक्ष्य प्रस्तुत करने का लोभ संवरण कर पाना हमारे लिए कठिन हो रहा है।

८. प्रत्यक्षज्ञान की प्राथमिकता और प्रकृति-विज्ञान

अतएव, वास्तविक भौतिकवादी स्थिति, संक्षेप में, प्रत्यक्षज्ञान को प्राथमिकता देने वाली कही जा सकती है। तथापि, हमारे देश में अन्ततः जो दशा विकसित हुई उसमें आध्यात्मिक ज्ञान के समर्थन ने ऐसा महत्व धारण कर लिया कि प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध के महत्व को अप्रासंगिक माना जाने लगा, या फिर उसे दिया जाने वाला महत्व एक किस्म की दार्शनिक पथभ्रष्टता समझी जाने लगी। यह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण बात थी—खास तौर से प्रकृति-विज्ञान की दृष्टि से, जो कि मुख्यतः इन्द्रिय-बोध के आधार पर फलता-फूलता है।

इन बातों को ध्यान में रखें तो हमारे लिए आचार्य प्रफुल्लचंद राय की उस समय की मानसिक उत्तेजना को समझ सकना आसान होगा जब भारतीय रसायनशास्त्र के किन्हीं मध्ययुगीन ग्रंथों में उन्हें ज्ञान के त्रुटिहीन स्रोत के रूप में प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध पर बल दिये जाने का उल्लेख मिला। १९१८ में उन्होंने एक भाषण दिया था जिसके कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं :

"आज मैं आपके सामने भारतीय जनगण के बौद्धिक विकास के इतिहास का एक विस्मृत अध्याय प्रस्तुत करने का प्रयास करूंगा, यानी प्रायोगिक विज्ञानों के संवर्धन का अध्याय। आम तौर से यह मान बैठा जाता है कि हिन्दू लोग स्वप्नदर्शी, रहस्यवादी थे, जो भाववादी परिकल्पनाओं और आध्यात्मिक चिन्तन-मनन में डूबे रहते थे।...लेकिन यह तथ्य आज बहुत कम लोगों को मालूम है कि प्रायोगिक विज्ञानों के विकास में उनका बहुत बड़ा हाथ था।...

"प्रयोग और निरीक्षण, विज्ञानों की मौलिक आधारशिलाएं हैं। इसलिए हिन्दू रसायनशास्त्र के दो ग्रंथों, यानी रामचन्द्र रचित **रसेन्द्र-चिन्तामणि** और यशोधर कृत **रस-प्रकाश-सुधाकर** में, जो दोनों ही तेरहवीं और चौदहवीं सदी की कृतियां हैं, प्रतिपादित नियमों को पढ़ कर मन को बड़ा संतोष प्राप्त हुआ है।

"रामचन्द्र कहते हैं : 'विद्वानों से मैंने जो सुना और शास्त्रों में पढ़ा, लेकिन प्रयोग करके जिनकी जांच नहीं कर पाया, उन्हें मैंने इस ग्रंथ में शामिल नहीं किया है। दूसरी ओर, अपने गुरुओं के निर्देशानुसार जिन क्रियाओं को मैं स्वयं अपने हाथ से सम्पन्न कर चुका हूं—केवल उन्हें ही यहां लिपिबद्ध कर रहा हूं। सच्चे गुरु उन्हें ही मानना चाहिए जो अपनी शिक्षाओं का प्रयोगों द्वारा

सत्यापन कर सकते हैं—इनसे भिन्न गुरु और शिक्षक, मंच पर दिखायी देने वाले नट मात्र हैं।'

"**रस-प्रकाश-सुधाकर** के रचयिता यशोधर कहते हैं : 'इस ग्रंथ में वर्णित रसों सम्बंधी सभी क्रियाएं मैं अपने हाथों से सम्पन्न कर चुका हूं—सुनी-सुनायी बातें मैं यहां नहीं लिख रहा हूं। मैंने जो कुछ इस ग्रंथ में कहा है वह स्वयं मेरे विश्वास और निरीक्षण पर आधारित है।' "

इस सिलसिले में प्रफुल्लचन्द्र राय ने तर्कसम्मत आयुर्विज्ञान की उस परम्परा को लक्षित नहीं किया जिसमें—मैंने अपनी पुस्तक **साइंस एण्ड सोसायटी इन एन्शियेन्ट इंडिया**[1] में जैसा कि दर्शाने का प्रयास किया है—प्राचीन भारत की महानतम वैज्ञानिक क्षमता निहित थी। यहां दुबारा जोर देकर हम यह बात कहना चाहते हैं कि औषधिविज्ञान सम्बंधी हमारे प्राचीनतम ग्रंथों में ज्ञान के स्रोत के रूप में प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध पर बार-बार बल दिया गया है—और यह स्थिति भौतिकवादियों की स्थिति से मूलतः मेल खाती थी। इससे प्रकट है कि भौतिकवादियों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध के महत्व पर बल देना, प्राचीन भारत में प्रकृति-विज्ञान का एक आधारभूत सिद्धांत था। आइए, तर्कसम्मत आयुर्विज्ञान के दो मौलिक ग्रंथों **चरक-संहिता** और **सुश्रुत-संहिता** से हम इसके कुछ उदाहरण लक्षित करें।

चरक-संहिता का एक अध्याय निम्नलिखित दावे से आरम्भ होता है :

"इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः, प्रत्यक्षफलदर्शनात्"।[2]

अर्थात्, विशेषज्ञों द्वारा इष्ट (प्रिय तथा हितकर) वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाला विधिपूर्वक बनाया गया अन्नपान, प्राणि कहे जाने वाले सभी जीवों के लिए प्राण कहा जाता है। ऐसा हम प्रत्यक्ष फल दर्शन के आधार पर कहते हैं।

ऊपर दिये गये उद्धरण में **प्रत्यक्षफलदर्शनात्** पर विशेष रूप से ध्यान देने की जरूरत है। इससे प्राचीन भारत में आयुर्विज्ञान के एक विशिष्ट पहलू पर प्रकाश पड़ता है, अर्थात् तथ्यों के प्रत्यक्ष दर्शन के महत्व पर। आयुर्विज्ञान के प्रयोगसिद्ध आधार पर विशेष बल देते हुए **चरक-संहिता** में कहा गया है :

"अपि च सर्वचक्षुषामतत्परं...इदं चास्माकं प्रत्यक्षं, यथापुरुषसहस्त्राणामुत्थायोत्थायाहवं कुर्वतामकुर्वतां चातुल्यायुष्टं्व, तथा जातमात्राणामप्रतीकारात् प्रतीकाराच्च, अविषविषप्राशिनां चाप्यतुल्यायुष्टं्व, न च

---

१. **प्राचीन भारत में विज्ञान** और समाज शीर्षक से शीघ्र ही हिन्दी में पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि. द्वारा प्रकाशित होने वाली पुस्तक—अ.

२. **चरक संहिता**, १-२७-२.

तुल्यो योगक्षेम उदपानघटानां चित्रघटानां चोत्सीदतां, तस्माद्धितोपचार-मूलं जीवितमतो विपर्ययान्मृत्युः, अपि च देशकालात्मगुणविपरीतानां कर्म-णामाहारविहाराणां च क्रियोपयोगं सम्यक् सर्वातियोगसन्धारणमुदीर्णानां च वर्जनमारोग्यानुवृत्तौ हेतुमुपलभामहे उपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति।"[1]

मोटे तौर पर तात्पर्य यह कि—'अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देखा गया साक्ष्य ही सबसे भरोसेमन्द होता है। हजारों पुरुषों के प्रतिदिन के उदाहरणों के आधार पर हम विश्वसनीय रूप से कह सकते हैं कि युद्ध करते हुए लोग मरते हैं और जो युद्ध नहीं करते वे जीवित रहते हैं। रोग के उत्पन्न होते ही जो उसका उपचार करते हैं और जो उपचार नहीं करते, उनकी आयु तुल्य नहीं होती। यह उसी तरह है जैसे जो लोग विष खा लेते हैं और जो विष नहीं खाते, उनकी आयु तुल्य नहीं होती। प्याऊ का घड़ा बार-बार पानी भरने और रगड़ आदि लगने से टूट जाता है, जबकि सुचित्रित सुरक्षित रखा घड़ा बरकरार रहता है। इन बातों से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उचित नियमितता और उपचार दीर्घ जीवन का और इसका उल्टा मृत्यु का कारण होता है।

'फिर, कुछ नियम हैं जिनके पालन से जीवन स्वस्थ रहता है। इस तरह, देश और काल के गुणों के विपरीत आहार-विहार से बचना चाहिए और क्रमशः अपने को उनके अनुकूल बनाना चाहिए। शरीर के लिए हानिकर अतिशयता को त्यागना चाहिए। प्रकृति प्रवृत्त वेगों (पाखाना, पेशाब) को रोकना नहीं चाहिए और ऊटपटांग हरकतों से बचना चाहिए।

'प्रत्यक्ष ज्ञान से हम ये ही आरोग्य के कारण पाते हैं और इनका ही उप-देश करते हैं। इति। (सम्यक् पश्यामश्चेति)।'

तथापि, मात्र तर्क के वशीभूत होकर कोई प्रत्यक्षज्ञान द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य के उल्लंघन की हद तक न बढ़ जाय, इसलिए सुश्रुत-संहिता में चेतावनी दी गयी है :

प्रत्यक्षलक्षणफलाः प्रसिद्धाश्च स्वभावतः।
नौषधीर्हेतुभिर्विद्वान् परीक्षेत कदाचन।
सहस्रेणापि हेतूनां नाम्बष्ठादिर्विरेचयेत्॥

अर्थात्, प्रत्यक्ष बोध से जिन औषधियों के लक्षण, फल, उनके स्वभाव से प्रसिद्ध हैं, उन औषधियों का विद्वान चिकित्सक द्वारा मात्र हेतु (तर्क) के आधार पर प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। सहस्रों तर्क उपस्थित कर दिये जाने पर भी अम्बष्ठा (अर्थात् पाठा) श्रेणी की औषधियों से विरेचन का कार्य नहीं प्राप्त किया जा सकता।

---

१. चरक-संहिता, १-३-४०.

क्या यह चार्वाक मतानुयायियों के इस दावे का स्मरण नहीं कराता कि सहस्रों तर्क और अनुमितियां भी आत्मा अथवा मृत्योपरांत जीवन को सिद्ध नहीं करतीं, जबकि प्रत्यक्षज्ञान यह बताता है कि मृत्यु के बाद केवल शव बचा रहता है जिसे या तो जला दिया जाता है या दफना दिया जाता है ?

प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध के महत्व के उत्साह में, चिकित्सा विज्ञान के ये दोनों प्राचीन ग्रंथ यह तर्क देने तक आगे बढ़ आते हैं कि शरीर के अवयवों के ज्ञान के लिए शव की चीर-फाड़ करना अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना आयुर्विज्ञान की जानकारी अधूरी रह जायेगी ।

सुश्रुत-संहिता में जोर देकर कहा गया है कि चिकित्सकों—विशेषकर शल्य चिकित्सकों—के लिए शरीर-रचना-विज्ञान की गहरी जानकारी होना एकदम जरूरी है । ऐसे अधिकृत ग्रंथ, बेशक, उपलब्ध होते हैं जिनसे दवादारू और शल्य चिकित्सा के छात्र यह जानकारी हासिल कर सकते हैं । लेकिन इस तरह हासिल की गयी जानकारी काफी नहीं है । शरीर-रचना-विज्ञान सम्बंधी पाठ्य-पुस्तकों से अर्जित ज्ञान को केवल तभी सच्चा माना जा सकता है जब प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा शरीर के भीतर के अवयवों की जानकारी की पुष्टि कर ली जाय । किन्तु, प्रत्यक्ष निरीक्षण पर आधारित ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय ? प्राचीन भारतीय शल्य चिकित्सकों के पास इसका केवल एक उत्तर था : मृत शरीरों की चीर-फाड़ करो । **सुश्रुत-संहिता** में जैसा कि कहा गया है :

> "त्वक्पर्यन्तस्य देहस्य योऽयमंगविनिश्चय. ।
> शल्यज्ञानादृते नैष वर्ण्यतेऽङ्गे केषुचित् ॥
> तस्मान्नि: संशयं ज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता ।
> शोधयित्वा मृतं सम्यग्द्रष्टव्योऽङ्ग विनिश्चय: ॥
> प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत् ।
> समासतस्तदुभयं भूयो ज्ञानविवर्धनम् ॥"[1]

अर्थात्, शरीर के विभिन्न अंगों की—त्वचापर्यंत—जानकारी शल्यज्ञान के बिना सही ढंग से नहीं हासिल की जा सकती । इसलिए, इनके निश्चित ज्ञान की इच्छा रखने वाले को मृत शरीर का शोधन करना चाहिए और उसकी चीर-फाड़ करके भलीभांति अंगों की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए । शास्त्रों (अधिकृत पाठ्य-पुस्तकों) में जो बताया गया है, व्यक्तिगत प्रत्यक्षज्ञान को उससे मिलाने से ही ज्ञान सम्पुष्ट होता है ।

---

१. सुश्रुत-संहिता, ३/५/४६-४८.

लिहाजा, ग्रंथ में, मृत शरीर की चीर-फाड़ की विधि का भी किसी हद तक सविस्तार वर्णन किया गया है :

"तस्मात् समस्तगात्रमविषोपहतमदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशतिकं निःसृष्टान्त्रपुरीषं पुरुषमावहन्त्यामापगायां निबद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्कल कुश शणादीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गमप्रकाशे देशे कोथयेत, सम्यक् प्रकुथितं चोद्धृत्य, ततो देहं सप्तरात्रादुशीर बालवेणुवल्कमकूर्चानामन्यतमेन शनैः शनैरवघर्षयंस्त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान्-लक्षयेच्चक्षुषा।"

अर्थात्, इसके लिए समस्त अंगों वाले, विष से न मरे हुए, बहुत लम्बी बीमारी से न मरे, एक सौ वर्ष से कम आयु वाले व्यक्ति के शव से आन्त्र और मल निकाल कर, उस शव को मूंज, छाल, कुश, सन आदि किसी एक से लपेट कर, किसी पिंजड़े में रख कर (ताकि मछलियां न खा जायें या वह बह न जाय), किसी एकान्त स्थान में नदी के शांत जल में, नरम होने (सड़ने) के लिए रखें। उस शव के भली भांति नरम हो जाने पर सात दिन बाद उसे निकाल लें और खस, बाल, बांस या बल्वज की कूंची से सड़ी हुई त्वचा को धीरे-धीरे खुरच कर हटायें और फिर स्वयं अपनी आंखों से, त्वचा समेत उन बाह्य तथा भीतरी सभी अंगों को, जिन्हें ऊपर बताया जा चुका है, देखें।

ऐसा नहीं है कि प्राचीन भारत के तर्कसम्मत आयुर्विज्ञान के प्रतिनिधि प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध मात्र को ही अपने प्रयोजन के लिए पर्याप्त मानते थे। सही ज्ञान के लिए इसे वे यद्यपि आरम्भ-बिन्दु मानते थे, तथापि इस ज्ञान की और आगे अभिवृद्धि के लिए अनुमिति के महत्व के प्रति भी वे सजग थे। लेकिन साथ ही, वे इस बात पर बल देते थे कि अनुमिति को प्रत्यक्षज्ञान के पदचिन्हों पर ही आगे बढ़ना चाहिए। अतएव, पहले जैसा कि बताया जा चुका है, वे अनुमिति की परिभाषा इस रूप में करते थे कि उससे पहले प्रत्यक्ष-ज्ञान आना चाहिए—अर्थात् प्रत्यक्ष-पूर्व के बाद ही अनुमिति आयेगी। और यदि बात ऐसी है, तो क्या इनकी स्थिति चार्वाक मतानुयायियों की स्थिति से बहुत ज्यादा भिन्न थी—अर्थात उस रूप में चार्वाक मतानुयायियों की नहीं जिस रूप में कि सदियों से उन्हें लांछित किया जाता रहा है, बल्कि उस रूप में जिसमें कि उनकी स्थिति के अब तक उपलब्ध अंशों से हम अन्दाजा लगा सकते हैं?

संक्षेप में : यद्यपि उन्हें सदियों तक बदनाम और लांछित किया गया तथापि भौतिकवादियों की स्थिति का दर्शन के लिए—उसके संकीर्ण अर्थों में नहीं—महत्व कहीं ज्यादा व्यापक था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थिति

प्रकृति-विज्ञान के मूलाधारों वाली स्थिति ही थी, यानी जिस हद तक कि प्राचीन और मध्ययुगीन भारत में प्रकृति-विज्ञान का विकास हो सकता था और हुआ था।

विज्ञान अपनी प्रकृति से ही भौतिकवादी है—लेनिन ने जोर देकर कहा है। प्रत्यक्षबोध और अनुमिति सम्बन्धी वास्तविक चार्वाक मत को इसका एक उदाहरण माना जा सकता है।

चौथा अध्याय

शरीर और आत्मा

१. प्रारम्भिक टिप्पणियां

भौतिकवादियों का दूसरा दावा जिसके खण्डन के लिए उनके विरोधी सर्वाधिक आतुर थे, यह था कि शरीर से परे कोई आत्मा नहीं होती। दूसरे शब्दों में, इसे शरीर से आत्मा की समीकृति का दृष्टिकोण (देहात्मवाद) कहा जाता था। "प्रामाणिक लोकप्रिय छन्दों" में इसे संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है :

> अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
> चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमपुजायते ।।
> किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
> अहं स्थूलं कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ।।
> देहः स्थौल्यादियोगाच्चा स एवात्मा न चापराः ।
> मम देहोऽयामित्युक्तिः संभवेदौपचारिकीः ।।

अर्थात, इस मत के अनुसार तत्व चार हैं—भूमि, जल, अग्नि और वायु। इन्हीं चारों तत्वों से चेतना उत्पन्न होती है, जैसे किण्वादि द्रव्यों के मिलने से मदशक्ति उत्पन्न होती है। 'मैं मोटा हूं', 'मैं पतला हूं', इस प्रकार एक आधार होने के कारण तथा मोटाई आदि से संयोग होने के कारण देह ही आत्मा है, अन्य कुछ नहीं। 'मेरा शरीर' जैसी उक्ति औपचारिक मात्र है।

ऐसे विचार के खण्डन की आवश्यकता महसूस होना स्वाभाविक बात थी। शरीर से अलग आत्मा के अस्तित्व के निषेध का निहितार्थ "परलोक" (स्वर्ग या नरक) के अस्तित्व का निषेध भी था। संक्षेप में जैसा कि कहा गया था : "किसी प्रेषित्र कारक के निषेध का निहितार्थ उस जगत का निषेध भी था जिसमें आत्मा गमन करे।" फलतः पुण्य और पाप सम्बंधी लम्बी-चौड़ी बातें भी अर्थहीन थीं, सिवा इसके कि शरीर के लिए क्या अच्छा और क्या बुरा है। यह सब अन्य दार्शनिकों के धर्मों के—हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म के—जिनसे वे कम से कम औपचारिक रूप से जुड़े थे, मूलाधारों के विरुद्ध था। यही कारण है कि वस्तुतः अन्य सभी दार्शनिकों का संयुक्त प्रयास यह था कि आत्मा

विषयक भौतिकवादी दृष्टिकोण का खण्डन किया जाय। जैसी कि आशा की जानी चाहिए थी, इस खण्डन के आम तौर से दो अंग थे। प्रथम, इस बात का विवरण कि स्वयं भौतिकवादी अपने दृष्टिकोण का किस प्रकार समर्थन करते हैं। दूसरा, स्वयं इस दृष्टिकोण का खण्डन।

ये विवाद प्रायः ही बहुत लम्बे चले और यह देखना कठिन नहीं कि, प्रथम पक्ष के रूप में, किस तरह भौतिकवादियों के सिर ऐसे तर्क मढ़े गये जो स्वयं उनके विरोधियों की मनगढ़ंत थे। ऐसे तर्क भौतिकवादियों के सिर मढ़ने का प्रयोजन यह था कि इससे भौतिकवादियों का खण्डन कर सकना आसान हो जायगा : भौतिकवादियों को यदि एक बार मिथ्या तर्कों पर, भले ही वे पांडित्यपूर्ण प्रतीत हों, आधारित दिखाया जा सकता तो समूचे तौर पर उनका अंततः खण्डन कर सकना बायें हाथ का खेल हो जाता। इस प्रकार हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए यहां वह सब दोहराने की जरूरत नहीं जो शरीर से परे आत्मा के सम्बंध में भौतिकवादी दृष्टिकोण के सिलसिले में कहा गया है। इसके बदले, निम्नलिखित बातों को बुनियादी तौर से समझ लेना उपयुक्त होगा।

पहली, वे कौन से सम्भावित बिन्दु रहे होंगे जिनके आधार पर भौतिकवादी अपना दृष्टिकोण प्रतिपादित करना चाहते थे ?

दूसरी, भौतिकवादियों के दृष्टिकोण का खण्डन करने के इच्छुक लोगों के मुख्य तर्क क्या थे ?

तीसरी, इस दृष्टिकोण को खण्डित करने के लिए जिन अधिक गम्भीर विचारों को आधार बनाया गया उनका अन्तर्भूत (यानी असली) दार्शनिक मूल्य क्या है ?

आखिरी बात—जो आधुनिक विद्वानों में बहुत ही कम देखी जाती है—हम अपने आप से यह प्रश्न करेंगे कि किस हद तक कुछ अन्य दार्शनिक, और कुछ महत्वपूर्ण वैज्ञानिक भी, जो ऊपरी तौर से भौतिकवादी दृष्टिकोण से मतभिन्नता प्रकट करते हैं, दरअसल कमोबेश दृढ़ता के साथ ऐसी स्थिति का समर्थन करते हैं जो भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रमुख पहलुओं से वस्तुतः मेल खाती है ? दूसरे शब्दों में, विचाराधीन दृष्टिकोण का भारतीय सांस्कृतिक विरासत में क्या महत्व रहा है ?

२. आत्मा विषयक भौतिकवादी दृष्टिकोण का समर्थन

हमारा इरादा आत्मा विषयक लोकायत दृष्टिकोण के शंकर द्वारा प्रस्तुत विवरण से आरम्भ करने का है। इसका कारण यह नहीं है कि शंकर ने इस

दृष्टिकोण के प्रति उदार रुख अपनाया था जिसकी वजह से उनको प्रस्तुत करना हमारे लिए अनुकूल है। इसके विपरीत, यदि लोकायतों का पूर्णतः विरोधी कोई दर्शन था तो वही जिसका प्रतिनिधित्व शंकर कर रहे थे; लोकायत जहां शरीर की सत्ता की एकांतिक स्थापना के लिए आत्मा का निषेध करते थे, वहां शंकर आत्मा की सत्ता की एकांतिक स्थापना के लिए शरीर का निषेध करते थे। तो भी, शंकर ने भौतिकवादी स्थिति को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उससे आरम्भ करना उपादेय है। समूचे भारतीय दार्शनिक साहित्य में शंकर की मुग्धकारी सहजता वाली लेखन शैली कठिनाई से ही ढूंढे मिलती है। यह शब्दाडम्बर से मुक्त और तार्किक खण्डन-विखण्डन के प्रति उदासीन है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के प्रस्तुतीकरण में और खण्डन में, दोनों में ही, शांतरक्षित, कमलशील, गुणरत्न तथा दूसरे दर्शनवेत्ताओं ने कमोबेश जो दुरूह तर्क इस्तेमाल किये हैं उनसे एकदम विपरीत, शंकर की शैली, प्रस्तुतीकरण और खण्डन दोनों ही मामलों में, इतनी सुबोध है कि उसे पढ़ कर उनके प्रति ईर्ष्या जाग उठती है। इसका एक स्पष्ट कारण यह है कि तर्क-प्रणाली से शंकर का बहुत सीमित ही सरोकार था। उनके मत का मुख्य शक्ति-स्रोत धर्मशास्त्रों की घोषणाएं थीं; तर्क की यहां मात्र एक गौण भूमिका—इन घोषणाओं को युक्तिसंगत ठहराने भर की—थी, ताकि विरोधियों के मतों का इन घोषणाओं द्वारा खण्डन किया जा सके। इसलिए भौतिकवादी स्थिति के मूल तत्व को तथा उसके खण्डन के मुख्य उपाय को उन्होंने बड़े ही सहज रूप में प्रस्तुत किया है जिससे इन दोनों को समझ पाना हमारे लिए अपेक्षतया सरल हो जाता है। शंकर से आरम्भ करने में एक लाभ और भी है। भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते समय, या उसके खण्डन के समय, अन्य दर्शनवेत्ता अनेक किस्म की प्रकटतः अप्रासंगिक बातें उठाते हैं, अर्थात् लोकायतों के प्रामणिक लोकप्रिय छन्दों—जिस रूप में कि वे हमें उपलब्ध है—की सहजता की दृष्टि से अप्रासंगिक बातें! ऐसे दर्शनवेत्ताओं के विपरीत, शंकर ऐसी अप्रासंगिक बातों के प्रति कोई रुचि नहीं दर्शाते जो अन्य दर्शनवेत्ताओं ने मात्र अपने पांडित्य प्रदर्शन के लिए गढ़ी थीं। इससे ठीक उलटे, वह सीधे-सीधे भौतिकवादियों व उनके विरोधियों के बीच विवाद के केन्द्रीय मुद्दे पर पहुंचते हैं।

तो फिर, किस बात को लेकर था यह विवाद ?

शंकर ने कहा कि लोकायतों के साथ-साथ प्रज्ञाहीन जनसमुदाय यह साबित करना चाहता था कि चेतना के गुण से युक्त स्वयं शरीर ही आत्मा है। इससे तात्पर्य यह था कि चेतना—जो प्रायः मनुष्य को वैशिष्ट्य प्रदान करने वाली मानी जाती है—स्वयं शरीर का एक गुण मात्र है। लेकिन ऐसा कैसे सम्भव है ? आखिर चार रूपों में विद्यमान पदार्थ से ही यह शरीर बना

है। और इनमें से प्रत्येक पदार्थ अन्तर्भूत रूप से चेतनाशून्य होता है। ऐसी दशा में, मानव शरीर को चैतन्य-मण्डित आत्मा से भला किस तरह समेकित किया जा सकता है? फलतः, मानव प्राणियों में चेतना के अस्तित्व की व्याख्या के लिए मात्र शरीर से कुछ अधिक की उपस्थिति को स्वीकार करना आवश्यक होगा। और, यह चीज आत्मा ही हो सकती है!

अपने मुख्य ग्रंथ में शंकर ने अन्यत्र लोकायत स्थिति का, और साथ ही उसके समर्थन में प्रस्तुत किये जाने वाले मुख्य तर्क का, अपेक्षतया अधिक विस्तार से वर्णन किया है। यहां उसका मोटा-मोटी अर्थ दिये देता हूं:

"लोकायतों का दावा है कि आत्मा कही जाने वाली कोई चीज है ही नहीं। आत्मा से उन्हें केवल शरीर का बोध होता है। वे निस्संदेह स्वीकार करते हैं कि पृथ्वी इत्यादि के रूप में पदार्थ में, जिससे यह शरीर बनता है, कोई चेतना नहीं होती—न तो पृथ्वी आदि के रूप में अकेले तौर पर, और न चार रूपों में विद्यमान पदार्थ के कहीं एकत्र कर दिये जाने पर। तथापि, चार रूपों में विद्यमान वही पदार्थ जब किसी विशिष्ट रूपान्तरण के फलस्वरूप शरीर का रूप धारण करता है, तो उसमें चेतना की उपस्थिति पायी जाती है। अतएव, चेतना मदशक्ति के समान है। मादक पेय तैयार करने के लिए विभिन्न द्रव्य उपयोग में लाये जाते हैं। ये द्रव्य किण्व जैसे कारक होते हैं। उक्त किन्ही भी पदार्थों में मदशक्ति नहीं होती, न ही उल्टे-सीधे तौर से उनके एकत्र कर दिये जाने से यह शक्ति उनमें आती है। तो भी, इन्हीं पदार्थों से मादक पेय निर्मित होता है जो मादकता उत्पन्न करने के गुण से युक्त होता है। उक्त चीजों को निगल लेने से किसी को नशा नहीं आता यद्यपि इन्हीं से शराब बनती है। लेकिन शराब पीने से मनुष्य नशे में झूमने लगता है। चार रूपों में विद्यमान पदार्थ के किसी भी रूप में चेतना का गुण नहीं होता। लेकिन इन्हीं तत्वों द्वारा शरीर का रूप धारण करने पर स्वयं शरीर चेतनायुक्त हो जाता है। अतः, लोकायतों का दावा है, मनुष्य चेतनायुक्त शरीर से अधिक और कुछ नहीं है। मृत्योपरान्त स्वर्ग अथवा नरक को जाने वाली इस शरीर से पृथक किसी आत्मा की बात एक निराधार कल्पना के अलावा और कुछ नहीं है। इस प्रकार, शरीर मे चेतना की उपस्थिति कतई इस बात का सबूत नहीं है कि शरीर से भिन्न किसी आत्मा का शरीर में अन्तर्निवास होता है। स्वयं देह (शरीर) में चेतना का गुण होता है। अतएव, कोई व्यक्ति यदि आत्मा शब्द के प्रयोग के लिए अत्यधिक उत्सुक हो, तो उसे आत्मा की पहचान देह से करनी होगी। इस विचार की व्यंजना के लिए एक सूक्ष्म उक्ति है: **शरीरे भवत**। इसका निहितार्थ निम्न प्रकार है। यदि कोई चीज किसी अन्य चीज की उपस्थिति में पायी जाती है और उस चीज की अनुपस्थिति में नहीं पायी

जाती, तो उसे इस अन्य चीज का गुण माना जायगा। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, गर्मी और उजाला अग्नि के गुण हैं: अग्नि के उपस्थित होने पर गर्मी और उजाला उपस्थित रहते हैं, अग्नि की अनुपस्थिति में ये गुण अनुपस्थित रहते हैं। शरीर से इतर आत्मा के विचार का समर्थन करने वाले दावा करते हैं कि चेतना के सदृश स्मृति, आदि, मात्र शरीर के गुण हैं।

"लेकिन तथ्य यह है कि इनका बोध शरीर की उपस्थिति में ही होता है; शरीर की अनुपस्थिति में इनमें से किसी गुण का बोध नहीं होता। चेतना, आदि, गुण चूंकि शरीर की उपस्थिति में ही पाये जाते हैं, और, इससे भी अधिक, शरीर की अनुपस्थिति में इनका चूंकि कोई बोध नहीं होता, अतएव उक्त गुण मात्र शरीर के गुण हैं। इस तरह, शरीर से ऊपर किसी आत्मा की स्वीकृति की कोई गुंजाइश नहीं। इस अर्थ में, स्वयं यह देह कथित आत्मा से अनन्य है।"

आत्मा सम्बंधी भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने में दूसरे बहुत से दर्शनवेत्ताओं के पंडिताऊ शब्दाडम्बर की तुलना में, शंकर का प्रस्तुतीकरण, अपनी स्पष्टता के कारण, निस्संदेह सराहनीय है। उन्होंने शरीर से आत्मा के समेकन के बारे में लोकायतों की दो मुख्य बातों का उल्लेख किया है। पहली: पार्थिव शरीर में चेतना आदि की उपस्थिति के साक्ष्य से कुछ भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (शराब के मामले में) मद उत्पन्न हो जाने के उदाहरण से प्रकट है कि जो गुण शराब निर्मित करने वाले तत्वों में पहले से वर्तमान नहीं होता, वह—इनके रूपांतरण की अपनी विलक्षण प्रक्रिया के फलस्वरूप—उत्पन्न हो जाता है।

लोकायतों की दूसरी बात का उल्लेख शंकर भारतीय तर्कशास्त्र की मानक शब्दावली में, यद्यपि संक्षिप्त उक्ति के रूप में, इस प्रकार में करते हैं: **शरीरे भवत।** अर्थात्, कथित आत्मा के लक्षण, शरीर के विद्यमान रहने पर ही देखे जाते हैं।

इन दोनों आधारों में से, जिनके बल पर लोकायत अपने मत का समर्थन करते थे, प्रथम की सच्चाई के बारे में संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं थी। लोकायतों का खण्डन करने को उत्सुक अन्य सभी महत्वपूर्ण दर्शनवेत्ताओं ने लोकायतों के इस आधार का उल्लेख किया है। स्वयं लोकायतों के "प्रामाणिक लोकप्रिय छन्दों" में इसका पुनरुल्लेख है। शंकर ने जो दूसरा आधार बताया है उसके विस्तार में जाने से पहले, आइए हम इस प्रथम आधार की चर्चा कर लें।

३. मदशक्ति का प्रमाण

यहां चर्चा आरम्भ करते हुए यह लक्षित किया जाना चाहिए कि इस उदाहरण की अपनी कुछ विलक्षणता थी, विशेषकर प्राचीन संदर्भ को देखते हुए। यह एक प्रत्यक्षत: देखी जा सकने वाली बात थी कि मादक पेय नशा उत्पन्न करते हैं; पीने वाले को मदमस्त बना देते हैं। यह तथ्य, सुदूर अतीत काल से ही सुविदित था। तथापि, जो विदित नहीं था वह यह कि इसका कारण क्या है। इसलिए, इस मामले में तरह तरह की कल्पनाएं की जाती थीं।

इन कल्पनाओं में सर्वाधिक प्रचलित यह कल्पना थी कि पेय में कोई असामान्य, अथवा अलौकिक प्रकार की, सत्ता उतर आती है। पेय के माध्यम से शरीर में पहुंच कर यही उस व्यक्ति से तरह-तरह की विचित्र क्रियाएं कराती है-- मदोन्मत्तता की क्रियाएं! मादक पेय के सम्बंध में ऐसी बेसिरपैर की कल्पनाओं के उदाहरण बड़ी सुगमता से **धर्म और नैतिकता का विश्वकोश (एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स)** के लेख "पेय और मदमत्तता" ("ड्रिंक्स, ड्रिंकिंग") में देखे जा सकते हैं।

इन बातों के अलावा, एक और दिलचस्प साक्ष्य यहां लक्षित किया जा सकता है। शराब के बारे में इतर लोक सम्बंधी दृष्टिकोण के अवशेष अंग्रेजी भाषा में आज भी मौजूद हैं। मादक पेयों के लिए अंग्रेजी भाषा में सबसे प्रचलित शब्द हैं: "स्पिरिट"। इस शब्द से तात्पर्य भूत-प्रेत, या बैताल, या किसी किस्म की पारलौकिक सत्ता से है। नशा होने पर, यह सत्ता ही व्यक्ति से तरह-तरह के आचरण कराती है। अपनी पुस्तक **इतिहास में विज्ञान (साइन्स इन हिस्ट्री)** में जे. डी. बर्नाल ने दर्शाया है कि यूरोप के वैज्ञानिकों के बीच उक्त धारणा किस कदर एक लम्बे समय तक प्रचलित रही थी। पारासेल्सस (१४९३-१५४१) तक का यही विचार था। बर्नाल ने जैसा कि लिखा है: "रसायन-शास्त्र की निर्णायक प्रक्रिया, आसवन (डिस्टिलेशन), सारत: उबलते हुए द्रव पदार्थ से अदृश्य आत्माओं को पकड़ने की प्रक्रिया मानी जाती थी। यह तथ्य कि ये आत्माएं सचमुच शक्तिशाली थीं, उन्हें पीने के प्रभाव से प्रकट था।" वान हेलमोंस्ट (१५७७-१६४४) का विचार भी यही था कि भूत-प्रेतों को पकडने की तकनीक का ज्ञान ही शराबखानों के मालिकों की सफलता का रहस्य है।

इन सब बातों को ध्यान में रखने पर, लोकायतों के उस दृष्टिकोण पर हम चकित हुए बिना नहीं रह सकते, जो उनकी आधारभूत स्थिति को न्याय-

संगत ठहराने के लिए प्रस्तुत उदाहरणों में अभिव्यक्त है। वे जिसे मदशक्ति—अथवा "नशा पैदा करने की शक्ति"—कहते थे, उसके प्रति उनका दृष्टिकोण विलक्षण रूप से प्रकृतिवादी था। उनके अनुसार, आसवन की समूची प्रक्रिया में कुछ भी लोकोत्तर, अलौकिक, अथवा असामान्य नहीं था। कुछ भौतिक पदार्थों के सम्मिश्रण और उनके विचित्र प्रकार के रूपांतरण के फलस्वरूप आसव तैयार होता था और उसमें सारतः एक नया प्राकृतिक गुण उत्पन्न हो जाता था। यहां आसव तैयार करने वाले के कूंडे से किसी भूत या बैताल के प्रकट होने की कतई कोई गुंजाइश नहीं थी। यह समूची प्रक्रिया साधारण रसोई बनाने जैसी ही थी। हां, इसकी विशिष्ट तकनीक की जानकारी अवश्य आसव निर्माताओं को ही रहती थी।

लोकायतों द्वारा अपनी स्थिति के समर्थन में इस उदाहरण का उपयोग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जिस मुख्य चीज पर वे बल देना चाहते थे वह एक नये गुण के प्राकृतिक उद्भव की थी : यह गुण यद्यपि उन अलग-अलग तत्वों में से किसी में नहीं पाया जाता था, तथापि इन्हीं तत्वों के किसी विचित्र रूपांतरण के फलस्वरूप वह उत्पन्न हो सकता था और हो जाता था। हमारा कहने का तात्पर्य यह नहीं कि हमारे प्राचीन भौतिकवादियों को पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के उस विचित्र रूपांतरण की रासायनिक प्रक्रिया की जानकारी थी जिसके फलस्वरूप जीवन, चेतना और स्मृति से सम्पन्न शरीर निर्मित होता है। सच तो यह है कि आधुनिक विज्ञान ने जो विशाल डग भरे है, उनके कारण प्राचीन और मध्ययुगीन चार पदार्थों वाली धारणा को रद्द कर दिया गया है। पदार्थ की अत्यंत परिष्कृत अवधारणा ने उसका स्थान ले लिया है। तथापि, ऐतिहासिक नजरिये से महत्व की बात यह नही है। महत्व की बात दरअसल वह पहला अनूठा डग है जो प्रकृति विज्ञान की दिशा में बढ़ाया गया। हमारे प्राचीन भौतिकवादियों ने जीवन, चेतना, स्मृति जैसी प्राकृतिक संघटनाओं की प्रकृतिसम्मत समझदारी की ओर निस्संदेह प्रथम डग बढ़ाया था—और वह भी, अपने दृष्टिकोण के प्रति चौतरफा विरोध को झेलते हुए। इस तथ्य ने ही भौतिकवादियों के दृष्टिकोण को भारतीय चिन्तन की एक अनूठी चीज बना दिया है। जैसी कि आशा की जानी चाहिए थी, उनके विरुद्ध तर्क-वितर्कों का जबर्दस्त तूफान खड़ा कर दिया गया। तथापि ये तर्क-वितर्क प्रागनुभवों पर आधारित थे, ठोस वैज्ञानिक विचारों पर नहीं। और, विज्ञान के प्रथम मूलाधार के विरुद्ध खड़ा किया गया तर्क-वितर्कों का यह तूफान निरर्थक लफ्फाजी के रूप में ही विसर्जित हुआ। अपने इस संक्षिप्त अध्ययन में, हम उसका केवल एक उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं।

४. गुणरत्न का तर्क-वितर्क : केवल पदार्थ अथवा उससे ऊपर कोई तत्व ?

आत्मा विषयक भौतिकवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध एक लम्बा तर्क-वितर्क गुणरत्न की रचनाओं में देखा जा सकता है। भौतिकवादी स्थिति के विरुद्ध उनके द्वारा गढ़े गये तमाम तर्कों में से वह जिसे निर्णायक महत्व प्रदान करना चाहते थे, वह कुछ ऐसी तार्किक चतुराई पर आधारित था जिसका जवाब देने पर भौतिकवादी लोग अपनी आधारभूत स्थिति को खो बैठ सकते थे। चतुराई यह थी कि भौतिकवादियों को यह स्वीकार करने पर बाध्य कर दिया जाय कि चेतना से युक्त शरीर के निर्माण की व्याख्या के लिए पदार्थ से ऊपर किसी तत्व की उपस्थिति को मानना अनिवार्य होगा।

चार्वाकों के सामने अपनी स्थिति के समर्थन के सिर्फ तीन सम्भव विकल्प थे। वे पदार्थ के शरीर में रूपांतरित हो जाने की बात कहते थे। लेकिन स्वयं इस रूपांतरण को किस तरह समझाया जाय? गुणरत्न ने कहा कि इसे समझाने के तीन—और केवल तीन ही—उपाय हो सकते हैं।

प्रथम, पृथ्वी इत्यादि के एकांतिक रूप में भी पदार्थ ऐसा रूपांतरण कर सकता है।

दूसरा, पदार्थ तभी सचेतन शरीर में रूपांतरित होता है जब कोई बाह्य तत्व, अर्थात् पदार्थ से ऊपर कोई चीज, उसकी सहायता करती है।

तीसरा, रूपांतरण शुद्धतः आकस्मिक होता है। इसका कोई कारण नहीं होता।

गुणरत्न ने तर्क दिया कि इन तीन विकल्पों में से पहला और तीसरा प्रकटतः अर्थहीन हैं, फलतः चार्वाकों के सामने केवल दूसरे को स्वीकार करने की सम्भावना रह जाती है। लेकिन चार्वाकों के लिए ऐसी स्वीकृति का सीधा मतलब था अपने आधारभूत सिद्धांत से हाथ धो बैठना, अर्थात् इस सिद्धांत से हाथ धो बैठना कि पदार्थ, और केवल पदार्थ ही, चेतनायुक्त शरीर में रूपांतरित होता है।

लेकिन प्रथम सम्भावना प्रकटतः ही अर्थहीन क्यों थी? क्योंकि—गुणरत्न ने तर्क प्रस्तुत किया—अपने चार रूपों में पदार्थ प्रायः सभी जगह उपस्थित है। परन्तु चेतनायुक्त शरीर सब जगह उपस्थित नहीं। इस सहज-सरल विचार के आधार पर ही प्रथम सम्भावना निर्मूल हो जाती है!

इस कठिनाई से बचने के लिए चार्वाक यदि दावा करते कि पदार्थ का शरीर में रूपांतरण शुद्धतः एक आकस्मिक घटना है—बिना किसी विशिष्ट कारण के कुछ घटित हो जाता है और कुछ घटित नहीं होता—तो वे रूपांतरण

की संघटना की व्याख्या की गुंजाइश तक से वंचित हो जाते। यह दावा करना कि शरीर का कारण पदार्थ है और साथ ही यह स्वीकार कर लेना कि पदार्थ से शरीर का निर्माण अकारण है, चार्वाकों के सामने यह स्वीकार करने की संभावना उपस्थित कर देता कि शरीर किसी भी जगह और सभी जगह उत्पन्न हो सकता है, और नहीं भी उत्पन्न हो सकता।

इस तरह, गुणरत्न की दृष्टि में, चार्वाकों के सामने केवल दूसरा विकल्प बच रहता था। यह तर्क देने के सिवा उनके सामने कोई चारा नहीं रह जाता था कि यद्यपि पदार्थ ही शरीर का वास्तविक कारण होता है, तथापि इस कारण को भी एक सहकारी कारक की, या मूल कारण की सहायता करने वाले किसी अन्य कारण की, आवश्यकता होती है। इस प्रकार, मिसाल के लिए, अग्नि धुएं का कारण मानी जाती है। लेकिन धुआं हुए बिना भी आग हो सकती है—जैसे लोहे का लाल-गर्म गोला। धुआं उत्पन्न करने के लिए अग्नि को किसी सहकारी कारक की जरूरत होती है, जैसे गीले ईंधन की। इसी तरह चार्वाकों को किसी सहकारी कारक की, जिसकी उपस्थिति से ही पदार्थ शरीर में रूपांतरित हो सकता था, मान्यता के लिए बाध्य होना पड़ता।

किन्तु ऐसे किसी सहकारी कारक की स्वीकृति चार्वाकों के लिए विध्वंसकारी होती, क्योंकि तब चार रूपों में पदार्थ के अलावा किसी अन्य तत्व की—फिर वह चाहे कुछ भी हो—उपस्थिति स्वीकार करनी पड़ती।

ऐसे तत्व की स्वीकृति चार्वाकों के इस आधारभूत दावे के विरुद्ध थी कि अपने चार रूपों में पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ भी वास्तविक नहीं है। गुणरत्न के शब्दों में, चार्वाक तत्वान्तर को स्वीकार करने पर विवश थे—अर्थात् जिन तत्वों को वे एकांतिक रूप से वास्तविक मानते थे, उनसे अधिक कुछ और को भी स्वीकार करने को!

ऐसी थी विकट परिस्थिति जो गुणरत्न ने चार्वाकों के सामने उपस्थित कर दी थी: या तो केवल पदार्थ से शरीर की उत्पत्ति समझाने का प्रयास त्याग दो, या अपने इस आधारभूत सिद्धांत से हाथ धो बैठो कि पदार्थ और केवल पदार्थ ही वास्तविक है।

गुणरत्न के तर्क के पीछे छिपी चतुराई से इन्कार नहीं किया जा सकता। तो भी यह प्रश्न अपनी जगह बरकरार है कि ऐसा तर्क चार्वाकों के खण्डन में कहां तक प्रभावी हो सकता था?

समूचा तर्क एक प्रश्न पर टिका है। तत्वान्तर का ठीक-ठीक अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ किसी दर्शन के मूलाधारों को निर्मित करने वाले तत्वों से ऊपर किसी तत्व की स्वीकृति है?

शुरू से ही यह याद रखना चाहिए कि किसी ऐसे तत्व की स्वीकृति का, जो स्वयं दार्शनिक के अपने मूलाधारों से ऊपर हो, आरोप तभी वैध माना जा सकता है जब दार्शनिक द्वारा स्वीकृत मूलाधारों के लिए यह बाह्य हो। किन्तु जब कथित अतिरिक्त तत्व दार्शनिक द्वारा स्वीकृत मूलाधारों में ही अन्तर्निहित हो, तो आरोप स्पष्टतः ही निराधार हो जाता है। मूलाधारों में अन्तर्निहित तत्व से क्या तात्पर्य है ? और फिर, वह बाह्य कब माना जाय ?

आइए हम पहले इसी प्रश्न के बारे में अपनी समझदारी साफ कर लें। इसके लिए हम किसी आमतौर से देखी जाने वाली चीज को मिसाल के तौर पर ले लें। आग, हम सभी जानते हैं, गर्म होती है। लेकिन कोई पूछ सकता है : आग गर्म क्यों होती है ? साफ जाहिर है, इसका एक ही जवाब है। प्रकृति से ही यह ऐसी है। इसलिए, किसी को यह बताने के लिए कि आग गर्म क्यों होती है, आग से बाहर की किसी चीज का हवाला देने की जरूरत नहीं। ऐसी ही बात पानी के ठंडा होने के सिलसिले में है। भारतीय शब्दावली में इसे **स्वभाव** कहा जाता है, हालांकि, जैसा कि हम शीघ्र ही दर्शाने का प्रयत्न करेंगे, इस शब्द का पूरा महत्व वैसा ही है जैसा विज्ञान में "प्रकृति का नियम" कही जाने वाली व्यंजना का।

हमारी वर्तमान चर्चा में जिस बात पर जोर दिये जाने, या दुबारा जोर दिये जाने, की जरूरत है वह यह है कि **स्वभाव** को स्वीकार कर लेने पर यह जरूरी नहीं रह जाता कि किन्हीं मुद्दों की व्याख्या के लिए अपने दर्शन के मूलाधारों से बाहर जाना जरूरी हो जाय। अगले अध्याय में हम दर्शाने का प्रयास करेंगे कि "प्रकृति" या "प्राकृतिक नियम" के प्रति हमारे भौतिकवादी अत्यंत गहन रूप से प्रतिबद्ध थे और इसकी पुष्टि स्वयं भौतिकवादियों के "प्रामाणिक लोकप्रिय छन्दों" से पूरी तरह होती है। अपनी वर्तमान चर्चा के लिए हमें यहां केवल एक बात और कह देनी है : भौतिकवादियों के विरुद्ध गुणरत्न के चतुराई भरे तर्क के जवाब में भौतिकवादियों का सहज तर्क केवल यह रहा होगा कि चार रूपों में उपस्थित पदार्थ प्रकृति के नियमों के फलस्वरूप "किसी खास अनुपात मे और किसी विशिष्ट ढंग से रूपांतरित होने पर" मानव शरीर का रूप धारण कर लेता है। इसका मतलब यह नही कि हम यह कहना चाहते हैं कि हमारे भौतिकवादियों को पदार्थ के अनुपात और रूपांतरण के ठीक-ठीक स्वरूप का उससे अधिक ज्ञान था जितना कि प्राचीन काल और मध्ययुग मे सम्भव हो सकता था। सच तो यह है कि जीवन, चेतना और स्मृति के उद्भव के बारे मे आज भी अनुसन्धान जारी है और आगे जारी रहेंगे। तो भी, भौतिकवादियों के विरुद्ध गुणरत्न के तर्क के जवाब में यह कह देना पर्याप्त होगा कि चूंकि **स्वभाव**—"प्रकृति",

या प्रकृति का नियम—पदार्थ के तत्वों से बाहर की चीज नहीं, इसलिए मात्र यह साक्ष्य कि चार्वाक "किसी खास अनुपात में और किसी विशिष्ट ढंग से रूपांतरित होने" के सम्पूर्ण संश्लिष्ट विचार को स्वीकार करते थे, इस कथन को पुष्ट करता है कि भौतिकवादी लोग पदार्थ से शरीर के उद्भव की व्याख्या करना चाहते थे। इस सिलसिले में, जैसा कि हम आगे दर्शाना चाहेंगे, स्वभाव को वे इस रूपांतरण का आधार मानते थे। इस तथ्य से ही गुणरत्न के उस आडम्बरपूर्ण तर्क की कलई खुल जाती है जो उन्होंने भौतिकवादियों के खिलाफ गढ़ा था और वह निरर्थक हो जाता है। गुणरत्न का तर्क केवल तब वैध माना जा सकता था, जब स्वभाव को पदार्थ से बाह्य—बाहर की चीज—माना जाता। लेकिन ऐसा मानना सम्भव नहीं। इसलिए, चार्वाकों के विरुद्ध गुणरत्न के तर्क का निरे शब्दाडम्बर से अधिक कोई महत्व नहीं था, फिर वह कितना ही प्रभावोत्पादक क्यों न दिखायी देता हो।

५. शव का सबूत

लोकायत दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए शंकर ने, जैसा कि हमने देखा है, एक अन्य भौतिकवादी तर्क को संक्षिप्त उक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है—शरीरे भवत् अर्थात् "शरीर की उपस्थिति से यह उपस्थित है।"

और भी साफ शब्दों में कहा जाय तो तर्क इस प्रकार है : चेतना, आदि, को शरीर का गुण माना जाना चाहिए क्योंकि शरीर की उपस्थिति से ही ये उपस्थित हैं। शंकर ने चूंकि इस बात का स्वयं उल्लेख नहीं किया कि उपरोक्त उक्ति उन्होंने कहां से ली है इसलिए हम केवल दो अनुमान लगा सकते हैं। पहला, शंकर ने इसे किसी ऐसे लोकायत पाठ से लिया होगा जो हमारे समय तक नहीं पहुंच सका। दूसरा, उन्होंने स्वयं इसे रचा ताकि लोकायत तर्कों को मानक भारतीय तर्कपद्धति के स्तर पर लाया जा सके। लोकायतों के लोकप्रिय प्रामाणिक छन्द चूंकि हमारे मन पर कोई ऐसी छाप नहीं छोड़ते जिससे वे लोग विद्वत्ता-प्रदर्शन अथवा भारतीय तर्कपद्धति के मानदण्डों के प्रति बहुत सचेत लगते हों, इसलिए दूसरा अनुमान ही श्रेयस्कर मालूम होता है। लेकिन आइए हम इस बहस में न उलझें। इसके बदले हम दो मुद्दों की चर्चा करें। पहला, अपने पूर्ण तर्कशास्त्रीय रूप में प्रस्तुत किये जाने पर इस तर्क की स्थिति क्या बनती है। दूसरा, भौतिकवाद के अन्य विरोधियों के साथ शंकर ने भी इसे किस प्रकार भ्रामक बता कर रद्द करने का प्रयास किया।

उक्त तर्क को अपने पूर्ण व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने के लिए यह उपयुक्त होगा कि किन्हीं दो संघटनाओं के बीच कारणात्मक सम्बंध स्थापित

करने की प्रणाली के सिलसिले में भारतीय तर्कशास्त्र में प्रयुक्त दो तकनीकी शब्दों की पहले व्याख्या कर दी जाय। कारण यह कि शंकर ने यद्यपि शरीर का "गुण" शब्द का प्रयोग किया है, तथापि उनके तर्क की धार मुख्यतः चेतना आदि के प्रति लोकायत दृष्टिकोण के विरुद्ध थी। मानक भारतीय तर्कपद्धति में कारणात्मक सम्बंध की स्थापना के लिए दो अनिवार्य शर्तों का पूरा किया जाना जरूरी है। इन्हें **अन्वय** और **व्यतिरेक** कहते हैं।

अन्वय के अनुसार, यह दर्शाना जरूरी होता है कि कथित कारण की उपस्थिति में कथित कार्य भी अवश्य ही उपस्थित होता है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, यह सिद्ध करने के लिए कि धुएं का कारण अग्नि है, धुआं भी उपस्थित रहता है। यह, मिसाल के लिए, रसोईघर के चूल्हे को दिखा कर सिद्ध किया जाता है।

व्यतिरेक के अनुसार, आगे यह दर्शाना भी जरूरी होता है कि कथित कारण की अनुपस्थिति में कथित कार्य भी अनुपस्थित रहता है। उदाहरणार्थ, यह बताया जाता है कि तालाब जैसे स्थान में अग्नि नहीं होती, फलतः धुआं भी नहीं होता।

यहां यह भी लक्षित किया जाना जरूरी है कि मानक भारतीय तर्कपद्धति के अनुसार किसी कारणात्मक सम्बंध के खण्डन के लिए दोनों स्थितियों का खण्डन आवश्यक होता है—अर्थात **अन्वय** का भी और **व्यतिरेक** का भी। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, यह सिद्ध करने के लिए कि अग्नि धुएं का कारण नहीं हो सकती, एक ओर यह दर्शाना जरूरी होगा कि बिना धुएं के अग्नि हो सकती है, दूसरी ओर यह दर्शाना भी जरूरी होगा कि बिना अग्नि के धुआं हो सकता है। इन दो साध्यों में से अकेले किसी एक का खण्डन, कथित कारणात्मक सम्बंध का निर्णायक खण्डन नहीं माना जायगा। इस तरह, विचाराधीन उदाहरण में, केवल यह दर्शाना पर्याप्त नहीं होगा कि लोहे के लाल-तप्त गोले में धुएं के बिना अग्नि उपस्थित है, बल्कि आगे यह दर्शाना भी आवश्यक होगा कि बिना अग्नि के भी कहीं धुआं है।

शब्दावली सम्बंधी इस स्पष्टीकरण के बाद, आइए हम लोकायतों पर लौटें, अर्थात इस बात पर कि चेतना, आदि, मात्र भौतिक शरीर के "गुण" हैं। इस बात को ही कहने का दूसरा ढंग है कि शरीर चेतना आदि का कारण है। इस दृष्टिकोण के समर्थन में, शंकर इस तर्क का हवाला देते हैं कि शरीर के उपस्थित रहने पर चेतना उपस्थित रहती है। दूसरे शब्दों में, लोकायत दृष्टिकोण के समर्थन में उनके द्वारा प्रस्तुत उक्ति (**शरीरे भवत**) केवल यह दर्शाती है कि शरीर और चेतना के बीच अन्वय है। किन्तु इस दृष्टिकोण के समर्थन में व्यतिरेक की जहां तक बात है, उक्ति एकदम मौन है। यह बात

एकदम सुस्पष्ट है। एक बार यह दिखाने में सफल होने पर कि भौतिकवादी केवल इस प्रस्थापना पर अपनी स्थिति आधारित किये हैं कि शरीर के उपस्थित रहने पर चेतना आदि भी उपस्थित रहती हैं, चेतना की अनुपस्थिति में शरीर की उपस्थिति के साक्ष्य की ओर संकेत करके भौतिकवादियों का खण्डन करना अपेक्षतया आसान हो जाता है। दरअसल, दूसरे अनेक दर्शनवेत्ताओं की तरह शंकर ने भी भौतिकवादियों के खण्डन का यही रास्ता अपनाया। ऐसे खण्डन का सहजतम तरीका शव का उदाहरण प्रस्तुत कर देना है। यहां शरीर तो उपस्थित रहता है किन्तु चेतना, आदि नहीं। भौतिकवाद के विरोधियों की तर्क करने की विधि इस प्रकार थी : शव में रंग, रूप, आदि, उपस्थित हैं क्योंकि—प्रकटतः—ये केवल भौतिक शरीर के गुण (अथवा कार्य) हैं। किन्तु शव को देखने पर हम पाते हैं कि यहां शरीर चेतना आदि के बिना उपस्थित है, अतएव चेतना को किसी भी रूप में केवल शरीर की चारित्रिकता या विशिष्टता नहीं माना जा सकता।

भौतिकवाद के विरोधियों की काफी बड़ी संख्या ने शव के प्रमाण को भौतिकवादी दृष्टिकोण के खिलाफ यद्यपि एक किस्म के तुरुप के पत्ते के रूप में इस्तेमाल करने की कोशिश की, तथापि हम यह प्रश्न उठाये बिना नहीं रह सकते कि तर्क की यह प्रणाली भौतिकवादी दृष्टिकोण का खण्डन करने में किस हद तक सफल रही !

शुरू में ही कह दिया जाय कि यह पूरा तर्क शरीर को शव से समेकित करने पर, यानी शरीर और शव को एक मान लेने पर, आधारित था। लेकिन ऐसे समेकन का चार्वाकों या लोकायतों द्वारा स्वीकार किया जाना तो दूर रहा, भौतिकवाद के कट्टर विरोधी तक, जैसा कि उनके आचरण से सिद्ध है, ऐसे समेकन को स्वीकार नहीं करते थे। पवित्रतम ब्राह्मणों को भी, जिनके लिए अपने गुरु के चरण-स्पर्श करना भारी पुण्य कमाने का साधन होता है, गुरु का शव छू लेने पर शुद्धि सम्बंधी कर्मकांड से गुजरना पड़ता था। भौतिकवादी के लिए यह सब, निस्संदेह, अर्थहीन था। तो भी, दार्शनिक दृष्टि से देखने पर, "शरीर" को भौतिकवादी जिस रूप में समझते थे वह वही नहीं था जो "शव" होता है। यदि पदार्थ के किसी विशिष्ट रूपांतरण के प्रारम्भ का अर्थ वह था जिसे वे शरीर मानते थे, तो मृत शरीर का उनके लिए वही अर्थ था जो इस परिवर्तन के विघटन की शुरूआत का, अथवा पदार्थों के अपने मूल रूपों में वापसी का, हो सकता है। ठीक यही समझदारी, किसी न किसी रूप में, जन-मानस में भी घर कर गयी थी। फलतः पंचतत्व प्राप्ति, अर्थात् "पांचों तत्वों का अपने मूल रूप को प्राप्त कर लेना", "मृत्यु" के लिए पर्याय शब्द बन गये। इस प्रकार, संक्षेप में, "शरीर" का "मृत शरीर" से

समेकन स्पष्टतः भ्रामक था। चेतना से रहित शव का सबूत भौतिकवादियों के दावे के विरुद्ध कुछ भी सिद्ध नहीं करता था।

उक्त बात को अलग रखें तो भी, भौतिकवादियों के विरुद्ध प्रस्तुत तर्क, जिसे स्वयं शंकर उनके खिलाफ इस्तेमाल करना चाहते थे, मानक भारतीय तर्कपद्धति की दृष्टि से भ्रामक था। भारतीय तर्कपद्धति के मानदण्ड के अनुसार कारणात्मक सम्बन्ध का खण्डन करने के लिए विरोधी के अन्वय के विरुद्ध विपरीत-साक्ष्य प्रस्तुत कर देना ही काफी नहीं होता। विरोधी का तर्क जिस व्यतिरेक पर आधारित हो, उसके मुकाबले विपरीत साक्ष्य प्रस्तुत करना भी अनिवार्य होता है। दूसरे शब्दों में, विचाराधीन उदाहरण में, चेतना की अनुपस्थिति में शरीर की उपस्थिति दिखाना भर पर्याप्त नहीं था। इससे आगे, शरीर की अनुपस्थिति में चेतना की उपस्थिति दिखाना भी अनिवार्य था। भौतिकवादियों के शंकर जैसे कट्टर विरोधी तक पूर्णतः शरीररहित चेतना का साक्ष्य प्रस्तुत करने पर अपना श्रम और शक्ति नहीं लगा सके। क्यों नहीं किया उन्होंने ऐसा? मोक्ष अथवा आत्मा की मुक्ति में विश्वास करने के नाते वे सहज ही तर्क दे सकते थे कि ऐसी दशा में आत्मा विशुद्ध चेतना के रूप में अवस्थित मानी जाती है। तो भी, यह एक सच्चाई है कि स्वयं शंकर ने तर्क की इस धारा को नहीं अपनाया।

क्या इसका कारण यह है कि वह भांप गये थे कि इस धारा को अपनाने पर आत्माश्रय-दोष (petitio principii) में फंस जाने का खतरा खड़ा हो जाता? वह जो सिद्ध करना चाहते थे वह यह कि: आत्मा के विशुद्ध चेतना का रूप ग्रहण कर लेने की सम्भावना है। ऐसी अवस्था की उपस्थिति को इसे सिद्ध करने के लिए ही स्वीकार कर बैठना—ऐसा सबूत जिसके लिए भौतिकवाद का खण्डन सर्वोपरि जरूरी था—उन्हें खतरनाक रूप से आत्माश्रय-दोष के नजदीक पहुंचा देता: अर्थात् जिस बात को सिद्ध करना था उसको ही सबूत मान बैठना!

संक्षेप में: शव का सबूत—भौतिकवादियों के विरुद्ध तुरुप का पत्ता—शरीर को चेतना से समेकित करने के दृष्टिकोण का खण्डन नहीं कर पाता।

६. स्मृति का साक्ष्य

न्याय-वैशेषिक शाखा के जयन्त भट्ट और उदयन जैसे महान तर्कशास्त्री आत्मा विषयक भौतिकवादी दृष्टिकोण को एक ऐसे तर्क से खण्डित करना चाहते थे जिसे किसी भी रूप में सरल और निश्छल नहीं माना जा सकता। अपनी इस छोटी-सी पुस्तक में उस तर्क को समझाने और शब्दावली सम्बन्धी उन तकनीकी बारीकियों को, जिन्हें वे लोग अनिवार्य समझते थे, स्पष्ट करने

की गुंजाइश नहीं है। तो भी, शरीर को आत्मा से समेकित करने के लोकायत अथवा चार्वाक दृष्टिकोण के अन्तर्भूत मूल्य का आकलन करते समय हम उनके तर्क को एकदम नजरअन्दाज नहीं कर सकते। यहां हम यथासंभव संक्षिप्त और सरल रूप में उनके तर्क के केन्द्रीय बिन्दु को प्रस्तुत करेंगे और तब यह देखने की ओर आगे बढ़ेंगे कि भौतिकवादी स्थिति के खण्डन में यह तर्क दर-असल कहां तक प्रभावी माना जा सकता है।

उनके तर्क का मुख्य बिन्दु, स्मृति का साक्ष्य है। यह साबित करने के लिए लम्बी-चौड़ी बहस की जरूरत नहीं कि किसी एक व्यक्ति के अतीत के अनुभव को कोई दूसरा व्यक्ति नहीं याद कर सकता। मिसाल के लिए, देवदत्त के अनुभव को यज्ञदत्त नामक व्यक्ति के लिए यथावत स्मरण कर पाना असम्भव है। दूसरे शब्दों में, स्मरण करने वाला कर्ता वही होना चाहिए। देवदत्त केवल अपने अनुभव को स्मरण कर सकता है। इसी तरह, यज्ञदत्त केवल अपने अनुभव को।

लेकिन यह एक तथ्य है कि कोई युवक अपने बचपन के अनुभव की याद कर सकता है जैसे कोई वृद्ध पुरुष अपने युवाकाल के अनुभव की। इस सबकी व्याख्या इस मान्यता के आधार पर करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि स्मरण करने वाला कर्ता एक ही रहता है। लेकिन कठिनाई तब उपस्थित होती है जब स्मरण करने वाला कर्ता कोई दूसरा हो। तब, किस तरह सम्भवतः हम इस बात की व्याख्या कर सकते हैं कि युवा व्यक्ति अपने बचपन के या वृद्ध पुरुष अपनी युवावस्था के अनुभव को स्मरण कर सकता है? शरीर के आत्मा से समेकन की मान्यता के आधार पर इस तरह की व्याख्या करना असम्भव है। इसका सजह कारण यह है कि उस व्यक्ति का बचपन का, युवावस्था का और वृद्धावस्था का शरीर एक ही नहीं रहते। सच तो यह है कि जयन्त और उदयन जैसे विचारक एक कदम और आगे बढ़ गये। उन्होंने तर्क दिया कि ऐसे स्थूल परिवर्तनों की बात तो अलग, शरीर निरंतर बदलता रहता है। इस बात को वे शरीर के लिए अनिवार्य पोषक भोजन के आधार पर सिद्ध करना चाहते थे: भोजन और पेयों के रूप में शरीर में जुड़ता जाता पदार्थ सिद्ध करता था कि शरीर-रचनांक लगातार बदलते जाते हैं। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह है कि पुराने शरीर का स्थान एक किस्म का नया शरीर लेता रहता है। इसलिए शरीर में कोई ऐसी चीज नहीं जिसे स्थायी कर्ता की संज्ञा दी जा सके। और, किसी स्थायी कर्ता के अभाव में, स्मृति के तथ्य की व्याख्या नहीं हो सकती। फलतः, स्मृति के तथ्य की व्याख्या करने के लिए शरीर से ऊपर किसी स्थायी आत्मा की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। ऐसी आत्मा ही स्मृति के तथ्य का कारक

हो सकती थी। जयन्त और उदयन जैसे न्याय-वैशेषिक दर्शनवेत्ता इस तरह के तर्क को, शरीर को आत्मा से समेकित करने के भौतिकवादियों के दावे के विरुद्ध फैसलाकुन सबूत मानते थे।

लोकायत दृष्टिकोण के खण्डन की न्याय-वैशेषिकों की इस रणनीति की अपनी स्पष्ट विशिष्टता है। हमारे लिए इसको समझ लेना आवश्यक है। कारण यह कि इसको समझ लेने के बाद ही हम इस रणनीति की कारगरता अथवा निस्सारता के आकलन के लिए उचित कसौटी निर्धारित कर सकेंगे।

इस रणनीति की अपनी स्पष्ट विशिष्टता क्या है? मात्र अवधारणात्मक विश्लेषण, अथवा मात्र शुद्ध तर्क, की औपचारिकताओं के आधार पर लोकायत स्थिति का खण्डन करने के प्रयास के बजाय, यह तर्क दर्शाने का प्रयास करता है कि कुछ निश्चित रूप से परखे अनुभवसिद्ध तथ्यों की सही समझदारी शरीर से आत्मा की पहचान करने की सैद्धांतिक स्थिति के एकदम विपरीत जाती है। लेकिन इसका मतलब क्या है? इसका मतलब उससे भिन्न कुछ भी नहीं जिसे आज विज्ञान और वैज्ञानिक जानकारी कहते हैं।

इसलिए, जयंत भट्ट और उदयन की ऊपर उद्धृत विशिष्ट रणनीति, उनके समय के विज्ञान और वैज्ञानिक जानकारी के अर्थों में लोकायत स्थिति का आकलन थी। इस बात पर दो कारणों से ध्यान देना जरूरी है। प्रथम कारण यह कि विचाराधीन विवाद की असली शक्ति, और असली कमजोरी का भी, संकेत इसी में निहित है। दूसरा कारण यह कि इससे उस वास्तविक कसौटी का पता चलता है जिस पर इस तर्क के औचित्य अथवा अनौचित्य को कसा जाना चाहिए। कारण यह कि किसी विज्ञान को विज्ञान की कसौटी पर ही कसा जा सकता है।

आइए, पहले हम जयन्त और उदयन के विश्लेषण की वास्तविक शक्ति को लक्षित करें। शरीर को आत्मा से समेकित करने के विचार के आकलन के लिए सबसे पहले शरीर की सही समझदारी होनी जरूरी है। जयंत और उदयन निश्चय ही एकदम सही हैं जब वे इस पर बल देते हैं। और, शरीर के बारे में उनकी समझदारी का सबसे उल्लेखनीय पहलू यह है कि यह अनवरत रूप से परिवर्तित होता रहता है। यह बात केवल इस सुप्रकट तथ्य पर ही आधारित नहीं कि शैशवावस्था का शरीर वृद्धावस्था के शरीर में बदल जाता है। उनके अपने समय के संदर्भ में उनके दृष्टिकोण की इससे अधिक उल्लेनीय बात है: स्वयं शरीर-द्रव्य का प्रतिस्थापन होते रहने के फलस्वरूप शरीर में अनवरत परिवर्तन होना। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे जयन्त, मिसाल के लिए, शरीर के पोषण के लिए आवश्यक पाचन क्रिया से

सिद्ध करना चाहते हैं। शरीर को लगातार आहार की जरूरत होती है। और, आहार के द्वारा पोषण का अर्थ है नये शरीर-द्रव्य का निर्माण होना, जो पिछले संचय को प्रतिस्थापित करता है। यह बात विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है। कारण कि अनुभवसिद्ध तथ्यों की सही व्याख्या में अधिक प्रगति के फलस्वरूप कोषाणु (cell) की खोज तथा इसके बारे में बढ़ती जानकारी के जरिये, वर्तमान विज्ञान हमें बुनियादी रूप से उपरोक्त तथ्य के बारे में ही अधिक समृद्ध जानकारी प्रदान कर रहा है। इस तरह, आज हम शरीर के भीतर कोषाणु-पुनरुत्पादन की बात जानते हैं और हम यह भी जानते हैं कि इसके कारण शरीर-द्रव्य के परिवर्तन की अनवरत प्रक्रिया चलती रहती है, फलतः स्वयं शरीर में परिवर्तन होता रहता है। "कोषाणु पुनरुत्पादन की गति स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप शरीर के अवयवों में भिन्न-भिन्न होती है। अनुमान लगाया गया है कि शरीर के समस्त प्रोटीन का आधा भाग—मुख्यतः मांसपेशी ऊतक—लगभग अस्सी दिनों में प्रतिस्थापित हो जाते हैं...। नीचे नयी त्वचा धीरे-धीरे बनती और ऊपर आती रहती है, जहां वह मृत होती और फिर घुल जाती है।"

स्वयं अपने वैज्ञानिक पर्यवेक्षणों के आधार पर न्याय-वैशेषिक यदि इस विचार की विलक्षण पूर्वकल्पना कर सके कि शरीर-द्रव्य के प्रतिस्थापन की निरंतर प्रक्रिया के फलस्वरूप शरीर लगातार बदलता रहता है, तो इसे उनके बेहतर वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव का ही द्योतक माना जायगा कि वे यह नहीं देख पाये कि इस शरीर-क्रियात्मक दृष्टिकोण का स्मृति या याददाश्त कहे जाने वाले मनोवैज्ञानिक तथ्य से किस तरह मेल बैठाया जा सकता है। तो भी, न्याय-वैशेषिक दर्शन की अन्यथा सराहनीय विज्ञानोन्मुखता के लिए यह बात घातक न होती यदि इस दर्शन के प्रतिनिधियों ने ऐसा मेल बैठा सकने की सम्भावना के सम्बंध में अपने अज्ञान को सहज रूप में स्वीकार कर लिया होता—ऐसे अज्ञान को जो उनके समय तक के विज्ञान के इतिहास को देखते हुए अपरिहार्य था। उनके विज्ञान के लिए जो चीज सचमुच घातक सिद्ध हुई वह है वह उपाय जिससे अपने ज्ञान की रिक्तता की उन्होंने पूर्ति करनी चाही—अर्थात् इस अंधविश्वासपूर्ण धारणा से कि एक शरीरेतर आत्मा अस्थायी रूप से शरीर में आकर निवास करती है। उन्होंने कल्पना कर ली कि यही स्मृति के तथ्य का कारण हो सकती है। न्याय-वैशेषिकों की यह कमजोरी गौतम और वात्स्यायन तक के समय में देखी जा सकती है। उन्होंने मानसिक जीवन के शरीरिक आधार सम्बंधी जानकारी के अपने अभाव को एक पृथक आत्मा की अवधारणा से पूरा करना चाहा। विचित्र बात है कि यह आत्मा स्वयं अपने बूते पर कोई मानसिक क्रियाकलाप कर सकने में असमर्थ

होती है। जयन्त और उदयन, जो यह तर्क देते थे कि शरीर से ऊपर एक आत्मा को स्वीकार किये बिना निरंतर परिवर्तित होते शरीर में स्मृति के तथ्य की व्याख्या नहीं की जा सकती, आत्मा पर सच्चे मानसिक क्रियाकलापों की क्षमता आरोपित नहीं कर पाते; यह आत्मा उतनी ही निश्चेष्ट और निःसंज्ञ बनी रहती है जितनी न्याय-वैशेषिक दर्शन में मूल रूप में इसकी परिकल्पना की गयी थी। फलतः, ऐसी आत्मा अपने पुराने अनुभवों का स्मरण कैसे कर सकती है यह अन्ततः एक रहस्य ही बना रहता है—अर्थात यह मान लेने पर भी कि ऐसी आत्मा का अस्तित्व स्मरण के तथ्य से सिद्ध होता है।

लेकिन अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है : क्या जयन्त और उदयन द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य एक शरीरेतर आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने में सचमुच सक्षम होता है? हम पहले ही देख चुके हैं कि मात्र अवधारणात्मक विश्लेषण, अथवा अकेली तर्कशास्त्रीय औपचारिकताएं ऐसे साक्ष्यों के आकलन की कसौटी नहीं बन सकतीं। न्याय-वैशेषिक दर्शनवेत्ता जिस साक्ष्य पर भरोसा करते हैं वह बुनियादी तौर से उनके समय के विज्ञान और वैज्ञानिक जानकारी के सिवा और कुछ नहीं। और, विज्ञान को तो केवल विज्ञान के मानदण्ड के आधार पर परखा जा सकता है।

अतएव, लोकायतों के विरुद्ध इस तर्क-वितर्क के मूल्यांकन के लिए प्रासंगिक प्रश्न बहुत ही सीधा-सादा है। स्मृति सम्बंधी समझदारी की प्रगति के लिए क्या एक शरीरेतर आत्मा की अवधारणा अधिक उपयोगी सिद्ध होती है? या यह प्रगति शरीर की प्रकृति और कार्यकलाप के बारे में ज्यादा गहरी समझदारी के कारण सचमुच सम्भव हुई है? क्या स्मृति सम्बंधी परवर्ती वैज्ञानिक समझदारी के लिए जयन्त और उदयन की अवधारणा लोकायतों की अवधारणा से अधिक फलप्रद थी? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है। स्मृति कही जाने वाली चीज के बारे में हमारी जानकारी में प्रगति स्वयं शरीर के बारे में अधिक सांगोपांग समझदारी के आधार पर सम्भव हुई है, जबकि शरीर में शरीरेतर आत्मा के अस्थायी निवास की बाबा आदम के जमाने की मान्यता के अवशेष, स्मृति समेत प्रायः सभी मानसिक क्रियाओं सम्बंधी जानकारी की प्रगति में अवरोधक ही सिद्ध हुए हैं।

ऐसा नहीं कि समकालीन शरीरक्रिया विज्ञान ने स्मृति के बारे में सब कुछ स्पष्ट कर दिया है। तो भी, इस दिशा में हमारे ज्ञान की प्रगति अभी ही प्रभावी है। यहां हम इस प्रगति के कुछ पहलुओं को लक्षित कर सकते हैं जो शरीर के बारे में बेहतर अन्तर्दृष्टि पर आधारित हैं।

पहले तो, यह स्वीकार कर लेने पर कि शरीर लगातार बदलता रहता

है, समकालीन वैज्ञानिक लोग स्मृति के शारीरिक आधार को किस रूप में स्वीकार करते हैं ? एच. हाइडेन का उत्तर इस प्रकार है :

"मैं शरीर के तंत्रिका कोशाणुओं (nerve cells) के एक अनूठे लक्षण पर बल देना चाहूंगा। कायिक कोशाणु (sometic cells) आम तौर से विभाजित हो जाते हैं—कुछ लघु अन्तरालों में तेजी के साथ, दूसरे दीर्घतर अन्तरालों में; लेकिन विभाजित सब होते हैं। तंत्रिका कोशाणुओं का अनूठा लक्षण यह है कि वे विभाजित नहीं होते। जिन तंत्रिका कोशाणुओं को लिये हुए हम पैदा होते हैं, उन्हीं कोशाणुओं को लिये मरते हैं। तांत्रिका कोशाणुओं के इस गुणधर्म का कारण क्या है जिससे वे दूसरे कोशाणुओं से भिन्न हैं ? मैं समझता हूं, इसका एक मुख्य कारण प्रत्येक तंत्रिकाकोशिका (neuron) के स्मृति भण्डार में संचित हो रहे अनुभवों को समूचे जीवन चक्र के दौरान तत्काल इस्तेमाल के लिए तैयार रखने की आवश्यकता है। तंत्रिका कोशाणुओं का यह विशिष्ट कार्यभार, निस्संदेह, उस जटिल आकृति से सम्बद्ध है जो तंत्रिका कोशिकाओं ने अपने विकासक्रम में ग्रहण की है—और जिसकी चारित्रिकता दीर्घ प्रशाखन प्रक्रियाएं हैं। इसलिए, आगे चल कर, मैं एक सम्भावित स्मृति यांत्रिकता (memory mechanism) और तंत्रिका कोशिका में उसके अधःस्तरों के बारे में कुछ बातें कहना चाहूंगा।"

मस्तिष्क कोशाणुओं के अत्यंत विशिष्ट गुणधर्मों में से, हमें बताया जाता है, एक बहुत महत्वपूर्ण गुणधर्म "बड़े पैमाने पर न्यैष्टिक अम्ल (nucleic acid) तथा प्रोभूजिन (प्रोटीन) बनाने की उनकी क्षमता" है। प्रोभूजिन (प्रोटीन) का संश्लेषण कोशाणु-अंग के RNA समृद्ध स्थलों पर होता है। "तंत्रिका कोशाणुओं में प्रति कोशाणु लगभग १५०० माइक्रोमाइक्रोग्राम RNA होना है" तथा "बड़ी तंत्रिकाकोशिकाएं शरीर की श्रेष्ठतम RNA पूरित कोषाणु होती हैं।" "तंत्रिका कोशिका में उत्पन्न RNA प्रोभूजिन (प्रोटीन), सीखने और स्मरण करने की— दूसरे शब्दों में स्मृति की—यांत्रिकता के लिए अधःस्तर का काम करते हैं। निस्संदेह यह आशा की जा सकती है कि चेतना में अतीत को फिर से ले आने की क्षमता (यानी किसी पिछली बात को याद कर लेने की क्षमता—अ.), सामान्य जीवविज्ञानीय वैधता की प्राथमिक यांत्रिकता में अवस्थित है।" इसमें ही, बर्नार्ड डब्लू. एन्ग्रानोफ के "स्मृति और प्रोभूजिन संश्लेषण" लेख (साइंटिफिक अमेरिकन, जून १९६७) में प्रस्तुत सामग्री भी जोड़ी जा सकती है जिसमें स्मृति के सुदृढ़ीकरण और मस्तिष्क में प्रोभूजिन के विनिर्माण के बीच सम्बंध पर प्रकाश डाला गया है।

इस तरह, स्मृति कही जाने वाली चीज इतनी रहस्यमयी नहीं कि हमारे दर्शनवेत्ताओं को वह इस हद तक किंकर्तव्यविमूढ़ कर दे कि वे एक शरीरेतर

आत्मा के प्राचीन अन्धविश्वास के सामने आत्मसमर्पण कर दें। इसके विपरीत, समकालीन विज्ञान इस रहस्य को यदि भेद सका है तो प्राचीन लोकायतों की बुनियादी सैद्धांतिक मान्यता के आधार पर ही, इस सिद्धांत के आधार पर ही की सम्पूर्ण मानसिक क्रियाकलाप—वह सब कुछ जिसे व्यापक अर्थों में चेतना की संज्ञा दी जाती है—सप्राण जीव के रूप में असामान्यतः संघटित पदार्थ की ही उपज है।

इस सच्चाई का और अधिक संकेत कि स्मृति के रहस्य को एक शरीरेतर आत्मा की मान्यता के आधार पर नहीं, बल्कि स्वयं शरीर की ज्यादा सांगोपांग जानकारी के आधार पर क्रमिक सफलता से निरावरण किया जा सकता है, डब्लू. जी. पेनफील्ड के अत्यंत रोचक प्रयोगों से मिलता है। वाई. सपरिना ने इन प्रयोगों का बड़ी लोकप्रिय शैली में वर्णन किया है। वह इस प्रकार है :

"किसी उद्दीपन की ललाट और कनपटी खंडों के (कुछ) हिस्सों में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। सक्रिय विद्युदग्रों (live electrodes) के अनुप्रयोग से चमकते प्रकाशपुंजों, गड़गड़ाहट भरी ध्वनियों या विसर्पी त्वचा जैसे संवेदन परीक्षणार्थ बठाये गये व्यक्तियों को नहीं हुए थे जैसे कि चाक्षुष, ध्वनिक अथवा स्पर्शी केन्द्रों (Visual, acoustie or tactile centres) को उद्दीपित करने पर हुए थे। तब एक दिन कैनाडा निवासी अनुसंधानकर्ता डब्लू. जी. पेनफील्ड ने एक मनुष्य की कनपटियों पर बहुत हल्की धारा वाले विद्युदग्रों का प्रयोग किया। प्रभाव ऐसा हुआ कि मानो उसके दिमाग में पुरानी स्मृतियों से जुड़ी ध्वनियां और दृश्य एक बार फिर अपने को दोहरा रहे हों। विस्तृत ब्योरों समेत बहुत वर्षों पुराने दृश्य, आवाजें, विचार और संवेदन सजीव हो उठे। विद्युदग्रों को हटाते या विद्युधारा को बन्द करते ही दृश्य विलुप्त हो जाते। प्रोफेसर पेनफील्ड ने ऐसे बहुत से रोचक प्रयोगों का वर्णन किया है।"

बात ऐसी नहीं कि मस्तिष्क में इन स्मृति अभिलेखागारों की ठीक-ठीक जगह का पता लगा लिया गया हो, न ही यह समझ बैठने का कोई वास्तविक आधार है कि समकालीन विज्ञान ने स्मृति की समस्या को पूरी तरह हल कर लिया है। तथापि, सिद्धांत की दृष्टि से, हमारी वर्तमान चर्चा के लिए ये मुख्य प्रासंगिक बिन्दु नहीं हैं। प्रासंगिक है यह सहज तथ्य कि हाल के वर्षों में स्मृति सम्बंधी वास्तविक समझदारी के सिलसिले में जो प्रगति हासिल की गयी है वह सचमुच शानदार है। और, तब प्रश्न उठता है : वह कौन-सी सैद्धांतिक मान्यता है जिसके आधार पर ऐसी प्रगति सम्भव हुई है? क्या यह मान्यता कि एक शरीरेतर आत्मा होती है जो स्वयं अपने विगत अनुभवों का रहस्यभरा थैला अपने साथ उठाये चलती है और यह आत्मा उस थैले की वस्तुओं को जब-तब झांक कर देख लेने की रहस्यपूर्ण क्षमता से मण्डित

है ? या यह मान्यता कि स्वयं शरीर के बारे में गहरी से गहरी होती जानकारी स्मृति सम्बंधी समझदारी में—दूसरे मानसिक क्रियाकलापों सम्बंधी समझदारी की तरह ही—प्रगति को सुगम बनाती है और, फलतः, इस दिशा में वह ज्ञान को अधिक समृद्ध करने की सम्भावना उपस्थित करती है ? भारतीय दर्शनशास्त्र के जिस सैद्धांतिक विवाद की हम चर्चा करते आ रहे हैं, वह ठीक इन्हीं दो स्थितियों के बीच विवाद है। लोकायत जहां दावा करते हैं कि हर मानसिक क्रियाकलाप के रहस्य का संकेत शरीर में खोजा जाना चाहिए, वहां न्याय-वैशेषिक लोग, शरीर सम्बंधी अपनी जानकारी के आधार पर इसकी सम्भावना न देख, कल्पना करने लगते हैं कि किसी स्थायी शरीरेतर तत्व—आत्मा—को स्वीकार किये बिना स्मृति कही जाने वाली मानसिक संघटना की व्याख्या नहीं की जा सकती। किन्तु स्मृति सम्बंधी हमारी समझदारी में बाद में जो प्रगति हुई है, वह उक्त परिकल्पना को सारहीन बना देती है। शरीर के आधार पर हमें स्मृति सम्बंधी सही समझदारी का रास्ता दिखा दिया गया है—और वह भी शरीर के सचमुच निरंतर परिवर्तित होते रहने की सही समझदारी के एकदम अनुरूप।

सारांश यह कि : लोकायत दृष्टिकोण के अस्वीकरण के लिए जयंत और उदयन द्वारा अपनायी गयी रणनीति चूंकि यह थी कि इस दृष्टिकोण के विरुद्ध विज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान को खड़ा किया जाय—अतः इस रणनीति के औचित्य अथवा अनौचित्य को विज्ञान के आधार पर ही परखा जा सकता है। इस तरह परखने पर, हम जयंत और उदयन की स्थिति के मुकाबले लोकायतों की स्थिति को अधिक सूझबूझ और समझदारी से सम्पन्न पाते हैं। जयंत और उदयन का इरादा यह था कि लोकायतों की स्थिति की जगह वे अपनी स्थिति को ला बैठायें।

अब हम अपने मूल प्रश्न पर लौट सकते हैं। पदार्थ से ही चेतना का उद्भव होने के लोकायतों के विचार को किस हद तक खण्डित किया जा सकता है ? भारतीय दर्शनशास्त्र के सामान्य विवरणों में शायद इस धारणा से अधिक उथली कोई दूसरी धारणा नहीं कि लोकायत दृष्टिकोण इतना ज्यादा सहज व भोलेपन से भरा है कि अपने पैरों पर खड़ा ही नहीं रह सकता और फलतः इसके अग्रदर्शी विरोधियों के लिए इसका खण्डन करना सबसे आसान काम था। किन्तु, जैसा कि हमने देखा है, लोकायत दृष्टिकोण के खण्डन का प्रयास जिन प्रमुख तर्कों से किया गया, वे वास्तव में या तो लोकायतों के मत्थे बचकानी स्थिति मढ़ने की तकनीक पर आधारित थे या वे एक ऐसी सैद्धांतिक स्थिति के मुकाबले—जिसकी बुनियाद पर विज्ञान परिपक्वता की ओर आगे बढ़ता है—अपरिपक्व विज्ञान का ढकोसला ला खड़ा करने पर।

७. उपसंहारात्मक टिप्पणियां

भारतीय दर्शन पर अपने वृहत् ग्रंथ में माधव ने टिप्पणी की थी : "दुरुच्छेदं हि चार्वाकस्य चेष्टितम् ।" अर्थात् चार्वाक मत का उच्छेदन—खण्डन—करना सचमुच कठिन कार्य है। बेशक, यह बात प्रशंसा के रूप में नहीं, बल्कि निन्दा के रूप में कही गयी थी। माधव दरअसल जिस बात की ओर संकेत करने का प्रयास कर रहे थे वह यह कि चार्वाक यह उपदेश देते हैं कि जीवन के तमाम किस्म के तथाकथित उदात्त और उच्च आदर्शों की ढोंगभरी लम्बी-चौड़ी बातों के धोखे में फंसने के बजाय मनुष्यों के लिए खाना, पीना और सुख से जीना ज्यादा समझदारी का काम है। और यह स्वभावतः आम लोगों की समझ में आता था और पसन्द था। इसीलिए चार्वाक मत का अनुसरण करने से लोगों को विमुख करना कठिन था।

अब तक हमने जो दर्शाने का प्रयत्न किया है वह यह कि माधव की उक्त टिप्पणी एक बड़ी हद तक वैध बनी हुई है, हालांकि जो निन्दात्मक भाव इस टिप्पणी में वह समोये रखना चाहते थे उसे हटा दिया जाना चाहिए। तथ्य यह प्रतीत होता है कि—इस दर्शन के बचे-खुचे अवशेषों के आधार पर देखा जाय तो भी—लोकायत या चार्वाक दृष्टिकोण में सम्भवतः दार्शनिक अर्थवत्ता का एक सुदृढ़ अंतर्भाग था जिसके कारण इस दृष्टिकोण को खण्डित करना सचमुच आसान काम नहीं था। बेशक, यह बताने की बार-बार कोशिशें की गयी थीं कि एक दर्शन के रूप में यह अत्यधिक उथला और भ्रामक दर्शन था। परन्तु पूर्वाग्रहों से हट कर पुनर्मूल्यांकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि बात दरअसल ऐसी नहीं है। इसके विपरीत, इसमें उससे कहीं ज्यादा सार्थकता थी जितनी इसके विरोधी स्वीकार करने को सहमत होते।

इसके साथ ही, आइए, हम इसके दार्शनिक महत्व को बढ़ा-चढ़ा कर आंकने की दूसरी भ्रान्ति में न फंसें। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बुनियादी तथ्य यह है कि यह दर्शन अत्यंत प्राचीन काल की उपज था, अर्थात यह उस समय की उपज था जब वैज्ञानिक ज्ञान का वास्तविक भण्डार बहुत सीमित था। इतने सीमित ज्ञान के आधार पर मनुष्य और पदार्थ के सम्बंध में एक समेकित दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास हमें एक विलक्षण करतब प्रतीत होता है। मनुष्य और प्रकृति को समझने के लिए आगे किस तरह अनुसन्धान किया जाय, इसके बारे में प्रायः मिलने वाला संकेत भी कम उल्लेखनीय नहीं।

लेकिन कहीं ज्यादा उल्लेखनीय लगता है ऐसे विचारों का एक दार्शनिक विकल्प विकसित करने का उनका प्रयास जो जनता को झूठी बातों और धोखाधड़ी का शिकार बना कर उसका शोषण करने के इरादे से गढ़े गये थे—

शास्त्रोक्त बातों के अकाट्य होने की कपोलकल्पनाएं, निरर्थक कर्मकांड और परलोक सम्बंधी तमाम किस्म की खोखली बातों, आदि, के विचार। इस मामले में, प्राचीन लोकायत और चार्वाक दर्शनवेत्ता कतई कोई रिआयत बरतने को तैयार नहीं थे—खास तौर से भारतीय संदर्भ में, जहां वही या उसी किस्म की धोखाधड़ी अब भी जारी है।

तथापि, हम जहां तक समझते हैं, हमारे प्राचीन भौतिकवादी जिस बात को आत्मसात करने में विफल रहे वह यह कि जिन भ्रमों का जनता को शिकार बनाया जा रहा था उनकी जड़ें स्वयं समाज की भौतिक परिस्थितियों में थीं। ये ऐसी परिस्थितियों में थीं जिनको बदले बिना इन भ्रमों को—फिर उनका चाहे जितनी योग्यता से भण्डाफोड़ क्यों न किया जाता हो—जन मानस से पूरी तरह उखाड़ नहीं फेंका जा सकता था। लेकिन हमारे प्राचीन भौतिकवादियों से यह आशा करना कि वे इस बात को आत्मसात कर सकते थे, ऐतिहासिक संदर्भ में सही नही होगा। भौतिकवादी दृष्टिकोण की एक सुसमृद्ध समझदारी पर पहुंचने के लिए—सामाजिक विकास की प्रक्रिया के ज्ञान सहित—मानव ज्ञान में अभी बहुत ज्यादा प्रगति की आवश्यकता थी; एक ऐसी समझदारी के लिए जिस पर दरअसल कार्ल मार्क्स पहुंचे थे जिन्होंने कहा था : "जनता के भ्रामक सुख के रूप में धर्म का उन्मूलन उनके वास्तविक सुख के लिए आवश्यक है। अपनी दशा के बारे में भ्रमों को त्यागने की मांग ऐसी दशा को त्यागने की मांग है जिसके लिए भ्रमों का कायम रहना जरूरी है।" पर इस सम्बंध में अधिक चर्चा हम तब करेंगे जब दर्शन और राजनीति के प्रश्न पर लौटेंगे क्योंकि इस प्रश्न की चर्चा से ही हम पुस्तिका का समापन करना चाहते हैं। इस बीच, जिस चीज पर बल देने की जरूरत है और लेनिन ने जिस पर सचमुच बल दिया था, यह है कि शोषणकारी समाज से श्रमिक जनों की सच्ची मुक्ति के लिए समकालीन संघर्ष में भी धार्मिक तन्द्रा से लोगों को जगाने की अतीत में की गयी कोशिशों के छिटपुट उदाहरणों पर दुबारा जोर दिये जाने और दुबारा उनका उपयोग किये जाने की आवश्यकता है। इस नजरिये से देखने पर, हमारे लोकायत और चार्वाक दार्शनिक तमाम किस्म के धार्मिक ढकोसलों की जिस ढंग से धज्जियां उड़ाने का प्रयत्न कर रहे थे, उसका मात्र एक शैक्षिक विषय होने से कहीं अधिक महत्व है।

किन्तु, इस सब की चर्चा पर आगे बढ़ने से पूर्व यह कह देने का लोभ संवरण करना कठिन है कि, अपने सीमित अर्थों में शैक्षिक दृष्टिकोण से भी, हमारे प्राचीन भौतिकवाद के बच-खुचे अवशेषों को देखने पर इनमें कुछ ऐसे अवशेष मिलते हैं जो अत्यधिक दूरगामी महत्व के हैं। आगामी दो अध्यायों में हम ऐसे ही असाधारण संकेतों का उल्लेख करेंगे।

पांचवां अध्याय

प्रकृति के नियम

१. प्रारम्भिक टिप्पणियां

पदार्थ से चेतना के उद्भव विषयक दृष्टिकोण के विरुद्ध गुणरत्न के तर्क-वितर्कों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हुए, हमने **स्वभाव** सम्बन्धी अवधारणा की चर्चा की है। हमने दर्शाया है कि लोकायत सम्भवतः किस प्रकार अपना समर्थन करते होंगे : अपने दार्शनिक मूलाधार, अर्थात अपने चार रूपों में पदार्थ से ऊपर किसी तत्व को स्वीकार करने के लिए वे बाध्य नहीं थे। अपने चार रूपों वाले पदार्थ के चेतनायुक्त शरीर में रूपांतरण की व्याख्या के लिए उन्हें किसी अन्य तत्व के स्वीकरण की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि पदार्थ के **स्वभाव** के कारण ही यह विशिष्ट रूपांतरण सहज सम्भव था। **स्वभाव** का शाब्दिक अर्थ है "प्रकृति", हालांकि **स्वभाव** शब्द उस सक्षमता का सूक्ष्म संकेतक भी रहा हो सकता है जिसे आगे चल कर "प्रकृति का नियम" कहा जाने लगा। लेकिन प्रश्न है : इस प्रकार का समर्थन किस हद तक सार्थक माना जा सकता है? दूसरे शब्दों में, हम किस हद तक लोकायतों को **स्वभाव** सम्बन्धी दृष्टिकोण के प्रवर्तक मान सकते हैं? भारतीय दार्शनिक परम्परा को, या अधिक व्यापक अर्थों में, धर्म और प्रकृति-विज्ञान सहित देश की सामान्य सांस्कृतिक परिस्थिति को समझने के संदर्भ में इस प्रश्न का, जैसा कि हम देखेंगे, बहुत दूरगामी महत्व है।

२. लोकायत और स्वभाव

माधव के ग्रंथ में सुरक्षित चार्वाकों का एक "प्रामाणिक लोकप्रिय छन्द" इस तथ्य का निर्णायक प्रमाण माना जा सकता है कि उन्होंने सचमुच **स्वभाव** सम्बन्धी अवधारणा का उपयोग किया था। लेकिन जिस आम संदर्भ में माधव ने उसे उद्धृत किया, उसकी अपनी निजी रोचकता है। उन्होंने कहा था :

"नन्वदृष्टानिष्टौ जगद्वैचित्र्यमाकस्मिकं स्यादिति चेत्—न तद्भद्रम्। स्वभावादेव तदुपपत्तेः। तदुक्तम्—

'अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मास्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥' "

अर्थात, "[चार्वाकों के विरुद्ध उनके विरोधी कहेंगे :] 'यदि आप अदृष्ट को (यानी अतीत में किये गये कामों के, या **कर्म** के पुण्य या पाप के रूप में अदृष्ट फलों को) नहीं मानते, तो संसार के इस वैचित्र्य को—असीम प्रकार की विविधताओं को—**आकस्मिक** कहना पड़ेगा ।' [चार्वाक उत्तर देते हैं :] नहीं, यह सही बात नहीं कही गयी (यानी, यह आपत्ति सारहीन है), क्योंकि यह (संसार का वैचित्र्य, असीम प्रकार की विविधताएं) **स्वभाव** से ही प्रसिद्ध है । हमारा कथन है :

'अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, वायु समस्पर्श (यानी न तो गर्म, न ठंडी) ।

ये सब विचित्रताएं किसने उत्पन्न कीं ? [स्पष्टतः किसी ने नहीं] अपनी-अपनी प्रकृति (स्वभाव) से ही इनकी ऐसी व्यवस्थाएं हैं ।' "

तो, चार्वाकों ने **स्वभाव** को अपनी स्थिति का आधार बनाया था—कम से कम माधव की तो यही समझदारी है और, इस मामले में माधव की समझदारी पर मुश्किल से कोई प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है । **महाभारत** का एक पद **स्वभाव भूतचिन्तकाः** का दावा कर, इस बात की पूरी तरह पुष्टि करता है; **स्वभाव भूतचिन्तकाः**—अर्थात् वे लोग जो पदार्थ से ही सब कुछ उत्पन्न मानते हैं, **स्वभाव** का उल्लेख करते हैं । इसकी और अधिक पुष्टि के लिए—अगर जरूरी समझा जाय तो—हम लोग अपने एक श्रेष्ठतम आधुनिक विद्वान, गोपीनाथ कविराज की रचनाओं को देख सकते हैं । अपने विश्वकोशीय ज्ञान के आधार पर उन्होंने उक्त बात के समर्थन में भारतीय साहित्य के विस्तृत क्षेत्र से ऐसे अनेक प्रमाण उद्धृत किये हैं, जो दूसरे विद्वानों की सामान्य रचनाओं में प्रायः दिखायी नहीं देते । इनमें से हम यहां केवल दो का जिक्र कर रहे हैं । वराहमिहिर रचित ज्योतिष विद्या-खगोलविद्या के सुप्रसिद्ध ग्रंथ **बृहत संहिता** की अपनी मीमांसा में भट्ट उत्पल कहते हैं : "अन्य का, अर्थात लोकायतों का दावा है कि संसार का कारण **स्वभाव** है । **स्वभाव** से ही इस चित्र-विचित्र जगत की उत्पत्ति है और **स्वभाव** के कारण ही अन्ततः इसका विनाश होता है ।" एक अपेक्षाकृत परवर्ती विद्वान अग्निचित पुरुषोत्तम का कथन है, "चार्वाकों के मतानुसार, स्वयं **स्वभाव** ही कारण है ।"

इस तरह के अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर गोपीनाथ कविराज स्वयं इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि "**स्वभाव**-वाद के चरम रूप का सबसे प्रारम्भिक

प्रतिनिधि प्राचीन भारत के ऐसे स्वतंत्र विचारकों का एक समुदाय था, जिन्हें लोकायत कहा जाता था लेकिन आगे चलकर जो चार्वाकों के नाम से अधिक विख्यात हुए। घोर भौतिकवाद, 'अदृष्ट' (कर्म के अदृश्य परिणामों के रूप में पुण्य और पाप) में अनास्था, (धर्मशास्त्रों की) सत्ता में अविश्वास, तथा अप्रतिबंध तर्कबुद्धिवाद--अधिक उचित शब्दों में वितंडा—उनकी मौलिक विशिष्टताएं थी।" वितंडा शब्द का भारतीय तर्कशास्त्र में प्रायः हेय दृष्टि से प्रयोग हुआ है। इस दृष्टि से वितंडा का आशय है—स्वयं अपनी किसी सकारात्मक प्रस्थापना के समर्थन के उद्देश्य के बिना, दूसरों को धराशायी करने के मात्र नकारात्मक प्रयोजन के लिए तर्क प्रस्तुत करना। फलतः, यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि अच्छा होता कि गोपीनाथ कविराज ने इसका प्रयोग उक्त संदर्भ में न किया होता। कारण यह कि लोकायतों या चार्वाकों के बारे में उन्होंने जो अन्य बातें कही हैं; यथा "घोर भौतिकवाद", "अप्रतिबन्ध तर्कबुद्धिवाद", आदि, उनसे यह (शब्द 'वितंडा') मेल नहीं खाता, क्योंकि, स्पष्ट ही, घोर भौतिकवाद और अप्रतिबन्ध तर्कबुद्धिवाद आदि का, प्रतिबद्धतापूर्ण भौतिकवाद के दृष्टिकोण से अपेक्षित सकारात्मक दार्शनिक स्थितियों वाला स्थान है। लेकिन आइए, हम इस बात को यहीं छोड़ें और **स्वभाव** की अवधारणा की ओर लौटें।

माधव द्वारा उद्धृत "प्रामाणिक लोकप्रिय छन्दों" से कोई यह सोच सकता है कि **स्वभाव** सम्बंधी विचार का सर्वोपरि उद्देश्य इस वैविध्यपूर्ण जगत के लिए किसी सृष्टा या ईश्वर के अस्तित्व को नकारना है। यही धारणा **श्वेताश्वतर उपनिषद** से प्रबलित होती है, जो कि एकेश्वरवाद के समर्थन में उपलब्ध संभवतः सबसे प्राचीन दस्तावेज है। इस में, **स्वभाव** की अवधारणा का, एकेश्वरवादी दृष्टिकोण के एक विकल्प के रूप में उल्लेख मिलता है। किन्तु यहां यह कह देना आवश्यक है कि, कम से कम समाजशास्त्रीय दृष्टि से, भारतीय दर्शन में एक परा-ईश्वर जैसी अवधारणा रही है। यह परा-ईश्वर है **कर्म**, या अधिक स्पष्ट रूप में कहें तो—**कर्म** का नियम। एकेश्वरवाद वाला ईश्वर, सामान्य समझदारी के अनुसार, सर्वशक्तिमान होते हुए भी, अत्यन्त दयालु भी माना जाता था। यह माना जाता था कि इस ईश्वर का भजन-पूजन करने से वह द्रवित हो जायगा और इस तरह मनुष्य की विपदा को हर लेगा। इसके विपरीत, **कर्म** का नियम इतना कठोर और सर्वशक्तिशाली था कि परमेश्वर भी उसके कार्यविधान को असहाय रूप में देखते रहने के सिवा कुछ नहीं कर सकता था। अगर किसी ने पिछले जन्म में पाप किये थे तो इस जीवन में अवश्य ही उसे उनका दण्ड भोगना पड़ेगा, और सामाजिक दृष्टि से, उसे **शूद्र** के रूप में, यानी सबसे नीची जाति के सदस्य के रूप में, जन्म लेना होगा तथा,

अपने उद्धार की तनिक भी आशा किये बिना, उच्चतर जातियों की सेवा में जुटे रहना होगा। परमेश्वर भी इस मामले में कुछ नहीं कर सकता था। बहुत से बहुत, इस प्रकार का व्यक्ति अगले जन्म में बेहतर जिन्दगी की कुछ आशा कर सकता था—वह भी, धर्मशास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट रूप में अपने कर्तव्यों की पूर्ति करके ही।

कितने ही भारतीय दार्शनिकों ने इस भौतिक जगत की असीम विविधताओं की कर्म के इस नियम के आधार पर किस प्रकार व्याख्या करने की कोशिश की, यह अत्यधिक जटिल प्रश्न है और उसमें जाने की जरूरत यहां नहीं। इसके बदले, हमारे लिए यहां ज्यादा जरूरी है कर्म के नियम के सामाजिक निहितार्थों को समझना तथा इस नियम के प्रमेय को लक्षित करना जिसे अदृष्ट अथवा जन्म और पुनर्जन्म के चक्रों के दौरान मनुष्य को चालित करने वाला पाप और पुण्य के रूप में अदृश्य प्रभाव कहा जाता है। अनेक प्रमाणों से जैसा कि स्पष्ट है, स्वभाव सम्बंधी दृष्टिकोण की मुख्य धार कर्म और अदृष्ट की अवधारणा के विरुद्ध है। अतएव, भारतीय संदर्भ में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने वाले साधारण नास्तिक की तुलना में स्वभाव के सिद्धान्त को लेकर आगे बढ़ने वाले भौतिकवादियों की भूमिका कहीं ज्यादा क्रान्तिकारी थी।

लेकिन स्वभाव सम्बन्धी दृष्टिकोण में इस समाजशास्त्रीय निहितार्थ से अधिक और भी काफी कुछ था। यह क्लासिकी विज्ञान के मूलाधारों का भी द्योतक था—इस अर्थ में कि इसका दावा था कि प्रकृति की प्रत्येक परिघटना का अवश्य ही एक प्राकृतिक कारण होना चाहिए। यह बात सबसे साफ तौर से तब समझ में आती है, जब हम इसे उस विशुद्ध आकस्मिकतावाद के मुकाबले रखते हैं जिसे भारतीय शब्दावली में यदृच्छा का दृष्टिकोण कहा जाता है। स्वभाव के सिद्धांत और यदृच्छा के सिद्धांत में, दुर्भाग्य से, लोग कभी-कभी घालमेल कर बैठते हैं—यहां तक कि इन्हें एक ही चीज समझ बैठते हैं। प्रकटतः इसका कारण यह है कि प्रकृति की परिघटनाओं के लिए किसी अलौकिक सत्ता से दोनों के ही इन्कार करने की वजह से, इनमें ऊपरी तौर से समानता दिखायी देती है। लेकिन अलौकिक सत्ता का अस्वीकरण दो स्पष्टतः भिन्न दृष्टिकोणों से किया जा सकता है—विज्ञान के दृष्टिकोण से, साथ ही विज्ञान-विरोधी दृष्टिकोण से भी। विज्ञान के दृष्टिकोण से, अलौकिक सत्ता से इन्कार इस नजरिये के समर्थन में था कि प्रकृति में घटित हर घटना प्राकृतिक नियमों से शासित होती है। विज्ञान-विरोधी दृष्टिकोण से, अलौकिक सत्ता से इसलिए इन्कार किया गया कि चूंकि प्रकृति का कतई कोई नियम है ही नहीं, अतएव प्रकृति को शासित करने वाली किसी ईश्वरीय इच्छा की

मान्यता निरर्थक है। स्वभाव सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रकृति को शासित करने में किसी ईश्वरीय इच्छा को स्वीकार नहीं करता है, पर वह विज्ञान के विकास की दिशा की ओर संकेत करता है—कारण कि वह इस तथ्य पर बल देता है कि प्रत्येक प्राकृतिक घटना स्वयं प्रकृति में अन्तर्निहित किसी नियम के वशीभूत घटित होती है। आइए, अब हम स्वभाव सम्बन्धी दृष्टिकोण के इस पहलू पर ध्यान दें।

शंकर का कथन था, "स्वभाव से तात्पर्य स्वयं भौतिक पदार्थ में अपरिहार्य रूप से अवस्थित शक्ति से है, यथा अग्नि में उष्णता...। यदृच्छा का अर्थ नितांत आकस्मिकता है।" शंकरानन्द ने कहा था, "स्वभाव का अर्थ है अलग-अलग पदार्थों की अपनी अन्तर्निहित प्रकृति, अर्थात उनका अनूठा कारणत्व। उदाहरणतः, अग्नि के मामले में, उसका जल उठना, और पानी के मामले में, उसका नीचे की ओर बहना।...आकस्मिकता (यदृच्छा) किसी ऐसी शक्ति की ओर संकेत है जो ताड़ (खजूर) के वृक्ष पर कौवे के आ जाने से ताड़-फल (खजूर) को गिरा देती है (ताड़ वृक्ष पर कौवे के आकर बैठते ही अकस्मात खजूर फल के टपक पड़ने की कहानी के अनुरूप)।" [काकतालीय : किसी आकस्मिक संयोग को, जिसे गलती से कारणात्मक सम्बन्ध मान लिया जाय, द्योतित करने की भारतीय शब्दावली; अर्थात, बाद की घटना को हेतु समझने के हेत्वाभास (या, यत्पूर्वं तत्कारणम) की भ्रांति]।

आकस्मिकतावाद और प्रकृतिवाद के इसी मूलभूत अन्तर पर बल देने का अमलानन्द सरस्वती ने भी प्रयास किया है : "यदृच्छा से मतलब किसी घटना का, कारण-कार्य सम्बन्ध के किसी नियम के बिना ही, अकस्मात घटित हो जाना है; इसके विपरीत स्वभाव वह है जो तब तक अस्तित्वमान रहता है जब तक सम्बन्धित चीज का अस्तित्व है, उदाहरणतः, प्रस्वेद आदि (जीवित प्राणियों के मामले में)।" किन्तु, प्रकृतिवाद और आकस्मिकतावाद के बीच अन्तर सबसे स्पष्ट रूप में, और बड़े विस्तार के साथ, जैन दार्शनिक गुणरत्न की रचनाओं में समझाया गया है। यहां उन्हें कुछ विस्तार से उद्धृत करना आवश्यक है।

"प्रकृतिवादी (स्वभाववादिनाः) निम्नलिखित दावा करते हैं। स्वभाव से तात्पर्य है वस्तुओं का स्वयमेव (अपनी अन्तर्निहित प्रकृति के कारण) रूपांतरण। जो कुछ भी उपस्थित है, उसका अस्तित्व स्वभाव की क्रिया के कारण है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, मिट्टी बर्तन में रूपांतरित होती है, कपड़े में नहीं, इत्यादि ...। फिर धागों से कपड़ा बनता है, बर्तन नहीं, इत्यादि। स्वभाव की क्रिया के बिना ऐसे नियमित कार्य नहीं हो सकते। ...अतएव, हर चीज को अन्ततः स्वभाव के कारण समझा जाना चाहिए। इसीलिए कहा गया है,

'कांटे को कौन बनाता है पैना ?
और पक्षियों व पशुओं को इतना भिन्न-भिन्न ?
इस सबका है स्वभाव के कारण ही होना,
ऐसा कोई नहीं जिसे उसकी इच्छा बना दे अविच्छिन्न;
क्या लाभ होगा यदि (ईश्वर को ही) इसका श्रेय हो देना ?'
'ताल-वृक्ष के कांटे पैने होते हैं
कुछ तो बिलकुल सीधे, कुछ ने टेढ़ा आकार पाया—
किन्तु फल इसका होता है गोल-गोल
बताओ, भला किसने इन्हें ऐसा बनाया ?'

"दूसरे कार्यों के उदाहरण छोड़िये, स्वभाव के बिना दाल (मुद्ग) का उबलना तक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, भोजन बनाने का बर्तन, ईंधन, समय, आदि, उपस्थित होने पर भी कणक-दुक-मुद्ग (दाल जैसे दिखायी देते पत्थर के टुकड़े) नहीं उबल पाते। अतएव, जिस अमुक चीज की अनुपस्थिति से अमुक चीज उपस्थित नहीं रहती वह अमुक से 'उपस्थिति की सहमति' (अन्वय) और 'अनुपस्थिति की सहमति' (व्यतिरेक) से सम्बद्ध है और वह उसके कारण ही है। (स्वभाव की उपस्थिति में, अमुक घटित होता है : स्वभाव की अनुपस्थिति में अमुक घटित नहीं होता है)। अतएव, स्वभाव ही उसका कारण है। इसलिए, मुद्ग का उबलना उसके स्वभाव के कारण समझा जाना चाहिए। फलतः, निष्कर्ष यह है कि इन सब परिघटनाओं का कारण इनका स्वभाव है।"

इसके विपरीत, आकस्मिकतावाद के आधारभूत बिन्दुओं की व्याख्या गुणरत्न ने इस प्रकार की है :

"आकस्मिकता (यदृच्छा) किसी बात का बिना किसी पूर्व योजना के घटित हो जाना है। अब, कौन लोग हैं आकस्मिकता के समर्थक ? उत्तर : वे लोग जो बार-बार घटित होते घटनाक्रम में किसी कारण-कार्य सम्बन्ध को नहीं मानते वरन् उसे संयोगवश मानते हैं। वे ही आकस्मिकता सिद्धांत के समर्थक हैं। उन लोगों का तर्क इस प्रकार है : घटनाओं में कोई कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि यह (अर्थात ऐसा कारण) वैध ज्ञान के किसी उपकरण द्वारा बोधगम्य नहीं है। इस प्रकार कुमुद (शालुक), कुमुद से उत्पन्न होता है, जबकि यह गाय के गोबर से भी उत्पन्न होता है। अग्नि, अग्नि से उत्पन्न होती है, साथ ही चकमक पत्थर से भी। धुआं, धुएं से उत्पन्न होता है और अग्नि व ईंधन के सम्बंध से भी। केले का वृक्ष, केले के वृक्ष की कलम से उत्पन्न होता है, साथ ही बीज से भी। अंजीर के वृक्ष, आदि बीजों से उत्पन्न होते हैं, साथ ही टहनियों से भी।...अतएव, कहीं कोई निश्चित

कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। यह समझ लेना चाहिए कि कभी कुछ संयोगवश घटित हो जाता है। इसलिए, विवेक सम्पन्न लोग घटनाओं के मूल को किसी अन्य चीज में खोजने का व्यर्थ श्रम नहीं करते। जैसा कि कहा गया है :

'लोगों के ये तमाम सुख और दुःख अचानक सामने आते हैं, जैसे कि ताल से कौवे का सम्बंध (काकतालीय) किसी जानकारी के कारण नहीं था। फलतः (कारण-कार्य का) कथित ज्ञान निरर्थक है। लोगों में हम जो ये सब जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु, आदि, पाते हैं, ये कौवे और ताल के सम्बंध के समान (विशुद्ध आकस्मिक घटनाएं) हैं।' "

इस प्रकार, किसी पारलौकिक कारणत्व के विचार का समान रूप से विरोध करने के बावजूद, यदृच्छावाद और स्वभाव-वाद स्वयं एक-दूसरे के ठीक विपरीत थे। आधुनिक विद्वानों में, हिरियन्ना ने इसका बड़ी स्पष्टता से विश्लेषण किया है। उपरोक्त दोनों नामों को क्रमशः उन्होंने 'आकस्मिकतावाद' और 'प्रकृतिवाद' कहा है, और टिप्पणी की है : "दोनों ही सिद्धांत इस विचार को समान रूप से अस्वीकार करते हैं कि प्रकृति अपने कार्यकलाप के पीछे किसी दैवी सत्ता या किसी अलौकिक विभूति की ओर संकेत करती है, कि यह सत्ता उसे नियंत्रित करती है अथवा उसके कार्यकलापों में उसका हाथ है। न ही आकस्मिकतावाद या प्रकृतिवाद अपने विचारों के लिए किसी पारलौकिक अनुसमर्थन की दोहाई देते हैं।" तथापि, दोनों के बीच बुनियादी फर्क को नजरअन्दाज नहीं किया जाना चाहिए। हिरियन्ना जैसा कि कहते हैं : "एक का दावा जहां यह है कि संसार निरी अस्तव्यस्तता के सिवा और कुछ नहीं तथा इसमें जो भी व्यवस्था दिखायी देती है वह मात्र संयोगवश है; वहां दूसरा यह स्वीकार करता है कि 'जो कुछ जैसा है वह अपनी प्रकृति के कारण है'; पहला जहां कारणत्व को एकदम नकारता है, वहां दूसरा उसकी सार्विकता को स्वीकार करता है, किन्तु तमाम परिवर्तनों का स्रोत स्वयं उस वस्तु में खोजता है जिसमे परिवर्तन हुआ है।...अतएव, स्वभाव-वाद के अनुसार हम जिस जगत में रह रहे हैं वह व्यवस्था-शून्य नहीं है; हां, इस जगत को कोई पारलौकिक तत्व शासित नहीं करता। यह स्व-निर्धार्य है, अनिर्धार्य नहीं।" स्वभाव-वाद के संदर्भ में हिरियन्ना आगे कहते हैं, "इसके बारे में जो पहली चीज लक्षित की जानी चाहिए वह है इसका निश्चयात्मकतावादी चरित्र जो—कभी-कभी इसका मुकाबला अदृष्ट-वाद या 'पारलौकिक में विश्वास' से करने पर—इसमें अन्तर्निहित दिखायी देता है। इस मामले में यह एक ओर मंत्रों और ब्राह्मणों के अमृतलोकत्व से भिन्न है, और दूसरी ओर, उपनिषदों के आध्यात्मिकतावादी दृष्टिकोण से। लोकायत ('इस प्रत्यक्ष लोक का') शब्द का मौलिक महत्व उक्त सिद्धांत की शिक्षाओं के निश्चयात्मकतावादी चरित्र—

उनकी इहलौकिक सैद्धांतिकी—के कारण रहा होगा, और उक्त सिद्धांत के लिए परवर्ती साहित्य में सामान्यतः इसी शब्द का प्रयोग होने लगा।"

अब हम एक और प्रश्न की ओर ध्यान देंगे। भारतीय दर्शन की रूढ़िगत चर्चाओं में, आम तौर से इस प्रश्न से बच निकलने की कोशिश की जाती है। क्या अकेले अप्रतिबन्ध भौतिकवादी ही स्वभाव सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्वीकार करते थे? हम यह देखेंगे कि इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है। इस तथ्य को मान लेने पर, हम यह भी देखेंगे कि भारतीय दार्शनिक परिस्थिति के बारे में जो विचार आम तौर से प्रचलित हैं, उनमें कितने गम्भीर संशोधन की आवश्यकता है।

३. स्वभाव और सांख्य दर्शन

हम सांख्य दर्शन से आरम्भ करते हैं जिसके पारंपरिक रूप से स्वीकृत संस्थापक को कभी-कभी "प्रथम दर्शनवेत्ता" अथवा आदि-विद्वान भी कहा जाता है।

आम तौर से जो स्वीकार नहीं किया जाता—किन्तु जिसकी ओर हमारे कुछ सर्वाग्रणी विद्वान लगातार ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न करते रहे हैं—वह यह है कि सांख्य मतावलम्बी भी स्वभाव-वाद का आधार अपनाते हैं। मैं गोपीनाथ कविराज को एक बार फिर उद्धृत करना चाहता हूं। सांख्य दर्शनवेत्ता के लिए प्रकृतिवाद की स्वीकृति की तर्कसम्मत आवश्यकता की ओर संकेत करते हुए, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है: "निमित्त-कारण (प्रभावी हेतु) की निष्पादन शक्ति को अस्वीकार करके तथा पदार्थ के स्वयं अपनी प्रकृति के कारण सक्रिय होने की अवधारणा (परिणाम-स्वभाव) अपना कर, सांख्य भी, स्वभाव-वादी की स्थिति के समकक्ष पहुंच जाता है।" महाभारत में संरक्षित सांख्य अथवा आदि-सांख्य विचारों की चर्चा करते हुए, हिरियन्ना टिप्पणी करते हैं कि अनेक आत्माओं (पुरुषों) की स्वीकृति के बावजूद, ये विचार "पदार्थ को, स्वयं अपने से समस्त विश्व उद्भूत करने की अपेक्षित शक्ति से मण्डित करने" के फलस्वरूप स्वभाव के सिद्धांत के समरूप हैं। न्याय-सूत्र के चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक के सूत्र २२ की व्याख्या करते हुए, जिसमें स्पष्टतः ही स्वभाव के सिद्धांत का उल्लेख है, रुबेन इस सिद्धांत कीचार्वाकों की स्थिति से नैकट्य की ओर ही नहीं, बल्कि सांख्य मतावलम्बियों की स्थिति से भी नैकट्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। ये दोनों ही ईश्वर की सत्ता से इन्कार करते थे। "सांख्य," रुबेन कहते हैं, "मां के स्तनों में दूध के स्वयमेव—अर्थात, ईश्वर के रूप में किसी चेतन आदि-कारण

के प्रयास के बिना—उतरने का बड़े चाव से उदाहरण देता है।" आर. ई. ह्यूम तो श्वेताश्वतर उपनिषद में उल्लिखित स्वभाव के सिद्धांत और सांख्य दर्शन को सीधे-सीधे एक ही चीज मानने का प्रस्ताव रखते हैं।

सांख्य की स्थिति को तर्कसम्मत रूप से स्वभाव के सिद्धांत पर इस तरह आधारित बताने में इन आधुनिक विद्वानों को कम से कम कुछ पारंपरिक विचारकों का समर्थन निश्चित रूप से प्राप्त है। नीलकंठ ने दो-टूक घोषणा की थी कि स्वभाव का सिद्धांत वही है जो सांख्य के अनुयायियों का : "स्वभाव इति परिणामवादिनाम् सांख्यानाम्।" सांख्य-कारिका का भाष्य करते हुए गौड़पाद ने भी स्वीकार किया है कि सांख्य मतानुयायियों के अनुसार—स्वभाव के रूप में—कारण उपस्थित रहता है। शंकर ने साफ-साफ बताया है कि स्वभाव के रूप में कारण की यह स्वीकृति, सांख्य दर्शनवेत्ताओं के लिए तार्किक दृष्टि से क्यों आवश्यक थी। इन दर्शनवेत्ताओं का कथन, शंकर कहते हैं, कुछ इस प्रकार होगा :

"यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्ध्यर्थं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दते, एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्तिष्यत इति।" (२. २-३)

अर्थात्, अचेतन दुग्ध जिस प्रकार स्वयं अपनी प्रकृतिवश नन्हे बछड़ों के पोषण के लिए, और अचेतन जल जिस प्रकार स्वयं अपनी प्रकृतिवश मानव कल्याण के लिए, बह चलता है, उसी प्रकार प्रधान (आद्य-पदार्थ), अचेतन होते हुए भी स्वयं अपनी प्रकृतिवश (स्वभावेन एव) मनुष्य के परम हित के उद्देश्य से क्रियाशील समझना चाहिए।

पुनः सांख्य दर्शनवेत्ताओं के लिए इसी आवश्यकतावश स्वभाव के सिद्धांत पर आश्रित होने की व्याख्या शंकर ने इस प्रकार की है :

"यथा तृणपल्लवोदकादि निमित्तान्तरनिरपेक्षं स्वभावादेव क्षीराद्याकारेण परिणमत्ते, एवं प्रधानमपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति। कथं च निमित्तान्तरनिरपेक्षंतृणादीति गम्यते? निमित्तान्तरानुपलम्भात। यदि हि किंचिन्निमित्तमुपलभेमहि, ततो यथाकामं तेन तृणाद्युपादाय क्षीरं संपादयेमहि, न तु संपादयामहे। तस्मात्स्वाभाविकस्तृणादेः परिणामः, तथा प्रधानस्यापि स्यादिति।" (२. २-५)

अर्थात्, घास, जड़ी-बूटिया, जल इत्यादि बिना किसी नैमित्तिक तंत्र के, स्वयं अपने स्वभाववश, जैसे दुग्ध में परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार—हम (सांख्य दर्शनवेत्ता) समझते हैं—आद्य-पदार्थ भी महत् में रूपांतरित हो जाता है। आप यदि हमसे पूछें कि हम कैसे जानते हैं कि घास आदि बिना किसी

नैमित्तिक तंत्र के रूपांतरित हो जाते हैं, तो हमारा उत्तर है : 'ऐसा कोई नैमित्तिक तंत्र दिखायी नहीं देता।' कोई ऐसा नैमित्तिक तंत्र ज्ञात होता तो उसका उपयोग कर घास आदि को हम अपनी इच्छानुसार दुग्ध में रूपांतरित कर लेते। लेकिन ऐसा तंत्र उपलब्ध नहीं है। अतएव, घास और वैसी ही चीजों का रूपांतरण उनके स्वभाव के परिणामस्वरूप ही होता है; और इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आद्य-पदार्थ का रूपांतरण भी इसी प्रकार होता है।

तो क्या तथ्य यह है कि स्वभाव की अवधारणा की, जो कि गोपीनाथ कविराज के अनुसार लोकायत और बाद में चार्वाक कहे जाने वाले भौतिकवादी दृष्टिकोण का मूल केन्द्रक थी, सांख्य दर्शन द्वारा स्वीकृति उसके भौतिकवाद की ओर झुकाव की द्योतक है ? यदि यह सच है तो प्राचीन भारत की दार्शनिक स्थिति के बारे में प्रचलित समझदारी में हमें संशोधन करना होगा। कारण यह कि उक्त समझदारी में तो भौतिकवाद को आम तौर से केवल कुछ अधम अनीश्वरवादियों का असाध्य मतिभ्रंश ही माना जाता रहा है।

मैंने अन्यत्र दर्शाने का प्रयत्न किया है कि न्याय-वैशेषिक के मामले में भी —जैसा कि वह अपने मूल रूप में था—इस, या इसी तरह की, संभावना से एकदम इन्कार नहीं किया जा सकता, फिर उसके परवर्ती प्रतिनिधियों ने उसे ईश्वरवादी सांचे में ढालने का कितना ही श्रमसाध्य प्रयास क्यों न किया हो ! किन्तु इस पुस्तक में मैं उस विवाद को नहीं दोहराना चाहूंगा। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि यह पुस्तिका सर्वसाधारण के लिए है, जबकि न्याय-वैशेषिक दृष्टिकोण को, ऊपर कहे गये मुताबिक, उसके मूल रूप में प्रस्तुत करने के लिए हमें पाठ्यगत और तर्कवितर्कगत, दोनों तरह की, विस्तृत चर्चा में उतरना पड़ेगा।

४. सारांश

इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य प्राचीन भारत में भौतिकवाद सम्बंधी दृष्टिकोण के पुनर्मूल्यांकन का प्रयास करना है। इस अध्याय में हमने दर्शाने का प्रयत्न किया है कि स्वभाव की, जिसका शाब्दिक अर्थ "प्रकृति" है, अवधारणा इस दृष्टिकोण का एक महत्वपूर्ण आयाम थी, हालांकि इस अवधारणा का निहितार्थ वह भी रहा हो सकता है जिसे बाद में "प्रकृति के नियम" कहा जाने लगा। भौतिकवादियों का मुख्य उद्देश्य इस जगत में जो असीम विविधताएं दिखायी देती हैं उनकी व्याख्या प्रस्तुत करना था। इसी प्रयोजन से स्वभाव की अवधारणा में दो चीजों पर बल अन्तर्निहित है। पहली, संसार

में जो विविधताएं दिखायी देती हैं उनके लिए किसी अलौकिक सत्ता का अस्वीकरण। ऐसा करते हुए इस दर्शन ने कर्म और अदृष्ट के सिद्धांत को अस्वीकार किया। कर्म और अदृष्ट का सिद्धांत शोषक समाज के राजनीतिक दर्शन का मुख्य विचारधारात्मक आधार था। इस सबको अस्वीकार करने के साहस का हमारे भौतिकवादियों ने—और केवल भौतिकवादियों ने ही—परिचय दिया। इसलिए, उनकी क्रान्तिकारी भूमिका से, विशेषतः भारतीय संदर्भ में, इन्कार कर सकना असम्भव है। इसके अलावा, स्वभाव की अवधारणा प्रकृति-विज्ञान के विकास की संभावना की ओर भी संकेत करती थी। और, इस तथ्य का महत्त्व विशेषतः तब उजागर होता है जब हम स्मरण करते हैं कि यूरोप में विज्ञान के इतिहास में प्रकृति के नियमों की अवधारणा को धर्मनिरपेक्ष बनाने में बेहद लम्बा समय लगा था।

न्यूटन जैसे महान वैज्ञानिक तक को कहना पड़ा था कि प्रकृति के नियमों को ईश्वरेच्छा की अभिव्यक्ति समझा जाना चाहिए, जबकि हमारे प्राचीन भौतिकवादियों के लिए स्वभाव यदि मूलतः धर्मनिरपेक्ष नहीं था तो कुछ भी नहीं था। भावी प्रकृति-विज्ञान के प्रति यह संकेत, स्वभाव के दूसरे निहितार्थ से, जिसका प्रयोजन यदृच्छा अथवा विशुद्ध आकस्मिकतावाद को दो-टूक रूप से अस्वीकार करना था, संपूरित था। स्वभाव के अनुसार, प्रकृति की हर परिघटना, किसी निश्चित प्राकृतिक कारण द्वारा निर्धारित होती है। यही, मौलिक अर्थों में, कम से कम अपने क्लासिकी रूप में प्रकृति-विज्ञान की आधारभूत प्रस्थापना रही है, फिर समसामयिक विज्ञान में कारणत्व की अवधारणा को कितना ही जटिल और सूक्ष्म बना देने की प्रवृत्ति क्यों न दिखायी देती हो।

यह सब हमें प्राचीन भारत में भौतिकवाद और प्रकृति-विज्ञान के प्रश्न पर पहुंचा देता है। अगले अध्याय में हम संक्षेप में इसकी चर्चा करेंगे।

अध्याय ६

भौतिकवाद और प्रकृति-विज्ञान

१. प्रारम्भिक टिप्पणियां

भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के तत्त्वावधान में **भारत में विज्ञानों का संक्षिप्त इतिहास (१९७१) (ए कान्साइज हिस्ट्री ऑफ साइन्सेज इन इण्डिया)** शीर्षक से प्रकाशित भारी-भरकम ग्रंथ में "नास्तिक, लोकायत और चार्वाक" के रूप में उल्लिखित भौतिकवादियों को एक चलताऊ टिप्पणी के उपयुक्त ही पाया गया है और वह भी इस रूप में कि प्रकृति-विज्ञान के लिए उनका किंचित सन्देहास्पद महत्व था। हां, उनका समय जरूर कुछ साहस बटोर कर लगभग ६०० से २०० ईसा पूर्व बताया गया है। टिप्पणी के अनुसार: "अपनी जानकारी की वर्तमान स्थिति को देखते हुए हमारे लिए यह कहना सम्भव नहीं कि चिन्तन की इन गैर-रूढ़िवादी धाराओं का विज्ञान अथवा धर्म-निरपेक्ष ज्ञानार्जन की प्रगति पर भी कोई प्रभाव पड़ा था।" अगर बात ऐसी है, जैसा कि हम शीघ्र दर्शाने जा रहे हैं, तो कहना न होगा कि इस "इतिहास" को लिखने वालों की "जानकारी की वर्तमान स्थिति" को सचमुच ही बहुत गम्भीरता से उन्नत करने की जरूरत है। उल्टे, तथ्य यह है कि, यदि कोई भारतीय दर्शन पर लिखी गयी थोथी रचनाओं को ही एकान्तिक रूप से अपना आधार नहीं बना लेता, तो यह देखना कठिन नहीं कि हमारी सामान्य सांस्कृतिक धरोहर में विज्ञान और धर्मनिरपेक्ष ज्ञानार्जन की प्रगति के लिए भौतिकवाद में बहुत अधिक सार्थकता है। सच्चाई तो—खास तौर से भारतीय दर्शन में चरम आदर्शवाद के गौरव के उन्मादपूर्ण गुणानुवाद के संदर्भ में—यह है कि हमारे भौतिकवादियों के बारे में वही बात दोहराने को जी चाहता है जो हेगेल ने एक बार एनक्सागोरस के बारे में कही थी, यानी यह कि "नशे में धुत्त लोगों के बीच वही सही होश-हवास वाला था।" बेशक, हेगेल ने यह बात अपनी आदर्शवादी स्थिति से कही थी। तो भी, यह वर्णन इतना सटीक है कि हमारे भौतिकवादियों के बारे में इसका उपयोग करने का लोभ संवरण कर पाना मेरे लिए बहुत कठिन है, विशेषकर तब जब हम प्राचीन भारत में प्रकृति-विज्ञान के सैद्धान्तिक मूलाधारों के सर्वेक्षण की दिशा में बढ़ रहे हैं।

तथापि, इस सर्वेक्षण के लिए हमारा इरादा मोटे तौर से एक ऐसी पद्धति को अपनाने का है जिसे हमारे ही एक प्राचीन महर्षि ने सुझाया था, भले ही व्यक्तिगत रूप से उन्हें चरम आदर्शवाद के प्रति प्रतिबद्धता क्यों न अपनानी पड़ी हो। उनका नाम हमें याज्ञवल्क्य के रूप में ज्ञात है। उनका सुझाव था कि सत्य तक पहुंचने का एक सहज उपाय उस सबका निषेध करते जाना है जो वह नहीं है—नेति। किन्तु स्वयं उनके प्रवचनों में यह पद्धति मानो सिर के बल खड़ी थी। लेकिन हम इसे उसके पैरों पर खड़ा करने का प्रयास कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हम जिस विधि को अपनाना चाहते हैं उसके अनुसार पहले यह देखना जरूरी है कि: वह कौन सी चीज थी जो प्रकृति-विज्ञान के विकास पर अवरोधात्मक प्रभाव डाल रही थी? इस चीज की एक बार शिनाख्त हो जाने पर यह मानना सहज होगा कि इसकी उल्टी चीज की ही विज्ञान की उत्प्रेरणा में, प्रत्यक्ष रूप में नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप में, भूमिका हो सकती थी। इस बात के एक बार स्पष्ट हो जाने पर, हम इस स्थिति में पहुंच जायेंगे कि भौतिकवाद और प्रकृति-विज्ञान के बीच की कड़ी के अधिक प्रत्यक्ष सबूतों को हम खोज और देख सकें। इनमें से कम से कम कुछ सबूत तो उस बौद्धिक कूड़े-कचरे के ढेर के नीचे दबे हैं जो बाद में उन पर डाला गया।

२. विज्ञान की अवनति और भौतिकवादियों की विरोधपूर्ण आवाज

तो, वह कौन सी चीज थी जो विज्ञान के विकास के लिए हानिकर साबित हुई और अन्त में उसकी अवनति का कारण बनी? सौभाग्य से, हमारे एक सर्वाधिक सुयोग्य वैज्ञानिक ने इस प्रश्न का उत्तर दे दिया है। यह हैं श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय। उनके कथन की पूर्ण समझदारी के लिए बस हमें उनकी कही बातों की व्याख्या भर करनी है। अपनी पुस्तक **हिन्दू रसायनशास्त्र का इतिहास** (ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री) में उन्होंने "तकनीकी कलाओं की जानकारी और वैज्ञानिक भावना की अवनति" पर एक विशेष अध्याय शामिल करना आवश्यक समझा था। यह एक ऐसा विषय है जिस पर श्री राय से पहले किसी ने चर्चा करना जरूरी नहीं समझा था। बाद में, उनके सुविख्यात परवर्ती वैज्ञानिकों में श्री एम. एन. साहा ने इस पर पूरी गम्भीरता से ध्यान दिया। श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय की पुस्तक का उक्त अध्याय यद्यपि छोटा ही है, तथापि भारत में विज्ञान का इतिहास लिखने वालों के लिए इसमें चिन्तन-मनन की काफी सामग्री है।

उन्होंने उक्त विषय की जो चर्चा की है उसमें ध्यान देने की पहली बात यह है कि भारत में वैज्ञानिक भावना की अवनति के वास्तविक कारण को उन्होंने स्वयं विज्ञान के सामान्य ढांचे के भीतर नहीं, बल्कि उससे बाहर, अर्थात मुख्यत: देश में विकसित सामाजिक परिस्थितियों में, खोजने का प्रयत्न किया है। इसका अर्थ यह है कि "आन्तरिकतावादियों" या "स्वायत्तता-वादियों" की प्राक्कल्पना पर हाल के विवाद से परिचित हुए बिना भी—यानी उस प्राक्कल्पना से परिचित हुए बिना भी जो विज्ञान की व्याख्या "मशालों की तरह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के हाथ में पकड़ाये जाने वाले विचारों, सिद्धांतों, मस्तिष्कीय और गणितीय तकनीकों तथा व्यावहारिक अनु-सन्धानों के आन्तरिक अथवा स्वायत्त प्रशासन मात्र" के अर्थों में करता है—प्रफुल्ल चन्द्र राय ने इस प्राक्कलन को सचमुच रद्द कर दिया था। भारत में विज्ञान की अवनति का मुख्य कारण वर्णों में बंटे समाज की व्यवस्था थी जिसमें प्रविधिज्ञों, दस्तकारों व शारीरिक श्रम करने वाले अन्य लोगों की सामाजिक स्थिति को विनाशकारी रूप से दयनीय बना दिया गया था। ऐसा, उनके विचार से, उस समय हुआ "जब बौद्धमत के ह्रास और बहिष्कार के बाद ब्राह्मणों ने अपनी सर्वोपरिता का सिक्का दुबारा जमा लिया था", क्योंकि "वैदिक काल के लोगों ने अपना कोई एकान्तिक वर्ण निर्धारित नहीं किया था, बल्कि वे अपनी सुविधा और स्वभावानुकूल रुचि के अनुसार अलग-अलग धन्धे अपनाते थे।" वर्ण-व्यवस्था वाले समाज की सत्ता के ऐसे दृष्टिकोण में भारत के समसामयिक इतिहासकारों को कितना संशोधन करना है, यह स्पष्ट ही अलग प्रश्न है। हमारा मुद्दा तो यह है कि भारत में विज्ञान की प्रगति और विकास पर वर्ण-व्यवस्था वाले समाज के प्रभाव के श्री राय के विश्लेषण से उन्हें कितना कुछ सीखना है! श्री राय ने जैसा कि कहा था :

"मनु और परवर्ती पुराणों की प्रवृत्ति उस पुरोहित वर्ग की प्रशंसा के गीत गाने की ही रही जिसने नितांत दम्भपूर्ण और अन्यायपूर्ण दावे प्रस्तुत किये थे। सुश्रुत के अनुसार शल्य-चिकित्सा के छात्र के लिए मृत शरीरों का विच्छे-दन एक अनिवार्य शर्त है और इस श्रेष्ठ महर्षि ने प्रयोग और पर्यवेक्षण से अर्जित ज्ञान पर विशेष बल दिया था। लेकिन मनु को यह बर्दाश्त नहीं था। मृत शरीर का स्पर्श ही, मनु के अनुसार, ब्राह्मण की पवित्रता को दूषित कर देने के लिए पर्याप्त था। इस प्रकार, हम देखते हैं कि वाग्भट्ट के कुछ ही समय बाद छुरिका को छूना तक निन्दनीय करार दिया जाने लगा और शरीर-क्रियाविज्ञान तथा शल्यचिकित्साविज्ञान का उपयोग उठ गया तथा सच कहा जाय तो ये विज्ञान हिन्दुओं के हाथ से गायब हो गये। इसी तरह साइक्लोपों की तरह लोहे की भट्टी के सामने पसीना बहाना भी एक हीन कार्य समझा

जाने लगा था। फलतः, समाज के अधिक परिष्कृत वर्गों द्वारा जिन कलाओं के प्रवर्धन के अत्यंत विशद चित्र हम प्राचीन संस्कृत साहित्य में पाते हैं, वे एक बहुत लम्बे अरसे से मात्र परम्पराओं के रूप में अवशिष्ट रह गयी हैं।

"कलाओं को नीची जातियों के लिए छोड़ दिये जाने और धन्धों-पेशों के वंशानुगत बना दिये जाने से हाथों के परिचालन में किसी हद तक निखार, बारीकी और कौशल जरूर आया, लेकिन ऐसा हुआ भयंकर कीमत चुका कर। समाज के बौद्धिक अंग को कलाओं में भागीदारी से इस तरह हटा लिये जाने से परिघटनाओं के 'क्यों और कैसे' के ज्ञान की—कारण और कार्य के समन्वय के ज्ञान की—उपेक्षा किये जाने पर खोजबीन की भावना एक ऐसे राष्ट्र से क्रमशः विलुप्त ही हो गयी जिसका झुकाव स्वभावगत अमूर्त चिन्तन और अध्यात्मवाद की ओर था तथा भारत सदा के लिए प्रयोगात्मक व आगमनिक (इन्डक्टिव) विज्ञानों से हाथ धो बैठा। भारत की धरती एक ब्यायल, एक देकार्त या एक न्यूटन के जन्म के लिए नैतिक दृष्टि से अनुर्वर बना दी गयी और वैज्ञानिक जगत के मानचित्र से उसका नाम लगभग पोंछ दिया गया।

"बौद्धिक जड़ता और गतिरोध के इस देश में कारीगर व दस्तकार वर्गों ने, जो अपनी किस्मत के भरोसे छोड दिये गये थे तथा केवल अपनी मौलिक कुशाग्रता व सही सूझबूझ से—जो दुनिया में उनकी एकमात्र धरोहर है—मार्ग-दर्शन ग्रहण कर रहे थे, पुरानी परम्पराओं को जिलाये रखा। पच्चीकारी, धातुओं पर आलंकारिक डिजाइन बनाने, हाथीदांत पर नक्काशी करने, मीनाकारी, बुनाई, रंगसाजी, तसमागीरी, सोने और हीरे-जवाहरात की कारीगरी, आदि, में अद्‌भुत कौशल का स्वयं अपने ढंग से उन्होंने परिचय दिया।"

वर्ण-व्यवस्था की बुराइयों की आलोचना करना, निस्संदेह, कोई नयी बात नहीं थी। हमारे बहुत से सामाजिक सुधारकों ने—जिनमें श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय के कतिपय समसामयिक सुधारक भी शामिल थे—इन बुराइयों की आलोचना की है, और कुछ ने तो श्री राय से कहीं ज्यादा ओजस्विता व मुखरता के साथ की है। लेकिन श्री राय के मामले में उल्लेखनीय यह है कि समाज की वर्ण-व्यवस्था में उन्होंने उस चीज को पहचाना जिसने विज्ञान को अधिकाधिक पंगु बना दिया था। आधुनिक शब्दावली में कहें तो वर्ण-आधारित समाज ने सिद्धांत और व्यवहार के बीच—दिमागी काम और हाथों से काम के बीच—विनाशकारी अलगाव का दौर शुरू किया था और उसे पुख्ता बनाया था। ऐसा, सच्चे दस्तकारों व तकनीशियनों की निन्दा और अपकर्ष के फलस्वरूप हुआ। लेकिन, केवल इन लोगों के पास ही प्रकृति की छानबीन करने के औजार और साजसज्जा थी जिनके बिना परिघटनाओं के "कैसे और क्यों" का ज्ञान हासिल किया ही नहीं जा सकता था। इस प्रकार, कारीगर

और तकनीशियन केवल अपनी दस्तकारी-विद्या पर आश्रित छोड़ दिये गये, जिसे वे अपनी योग्यताओं भर सुधारते रहे, लेकिन वास्तविक विज्ञान इससे लाभान्वित और समृद्ध नहीं हो सका।

श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय भारतीय विज्ञान के चूंकि ऐसे प्रथम इतिहासकार थे जिन्होंने स्पष्ट रूप से उक्त तथ्य को समझा और १६०२ में ही बड़े साहस के साथ भरपूर जोर देते हुए इसे सामने रखा, इसलिए उनकी बात के निहितार्थों को समझने का प्रयास करना उचित होगा।

पहली बात। विज्ञान की अवनति का असली कारण यदि कारीगरों और तकनीशियनों की सामाजिक अवमानना में देखा जाना है, तो स्पष्ट ही निष्कर्ष यह निकलता है कि विज्ञान अन्ततः अपना पोषण प्रविधियों से ग्रहण करता है। बेशक, इसका मतलब यह नहीं कि विज्ञान को मात्र टेक्नोलॉजी के समतुल्य मान लिया जाय। तथापि, इसका यह अर्थ तो है ही कि प्रविधियों का विज्ञान से गहरा ताल्लुक है और इनके बिना विज्ञान की बात सोची भी नहीं जा सकती। यहां यह लक्षित किया जा सकता है कि श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय ने इस बात को हमारी इस शताब्दी के प्रथम दशक में ही समझ लिया था, यानी १९४२ में प्रकाशित **भौतिक नियम की अवधारणा की उत्पत्ति (दि जेनेसिस ऑफ दि कान्सेप्ट ऑफ फिजिकल लॉ)** पर ई. जिलसेल के सुप्रसिद्ध निबन्ध, बी. फेरिंग्टन की रचना **यूनानी विज्ञान (ग्रीक साइन्स)** और जे. डी. बर्नाल की रचना **इतिहास में विज्ञान (साइन्स इन हिस्ट्री)**, जो प्रथम बार क्रमशः १९४४ और १९५४ में प्रकाशित हुई, के प्रकाशन से बहुत पहले। ये ऐसी रचनाएं हैं जिन्होंने विज्ञान के इतिहास लेखन को एक नया मोड़ दिया है। इनमें बुनियादी तौर से उसी विषय की, यद्यपि स्वभावतः अधिक ऐतिहासिक तथ्यों के साथ, चर्चा की गयी है जिनकी श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय ने की थी।

फेरिंग्टन ने **यूनानी विज्ञान (ग्रीक साइन्स)** और परवर्ती संक्षिप्त किन्तु विद्वत्तापूर्ण पुस्तक **प्राचीन यूनान में मस्तिष्क और हाथ (हेड एंड हैंड इन एंशियेन्ट ग्रीस)** मे, जो प्रथम बार १९४७ में प्रकाशित हुई, वह दूसरा मुद्दा उठाया है जिस पर श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय बल देते हैं। फेरिंग्टन की तरह यूनानी विज्ञान सम्बंधी विस्तृत अध्ययन की हम श्री राय से अपेक्षा नहीं करते, तो भी इस तथ्य को नजरअंदाज करना गलत होगा कि श्री राय स्वयं अपने ही ढंग से इस बात को समझने की कोशिश कर रहे थे कि शारीरिक श्रम को निन्दनीय बताने के जो कुपरिणाम विज्ञान के लिए हो रहे थे वे एक किस्म की सार्वभौमिक परिघटना थे। ये ही दुष्परिणाम प्राचीन यूनान में उभर कर सामने आये थे। फेरिंग्टन स्वयं इस मुद्दे पर बल देते हैं। शारीरिक श्रम पर बल दिये जाने के मुद्दे को वह प्राचीन यूनानियों की मात्र सैद्धान्तिक उप-

लब्धियों को, जिन्हें आम तौर से कथित रूप से उनकी वैज्ञानिक सफलताओं का स्रोत समझा जाता है, एकांगी तौर पर महत्व दिये जाने की भूल का सुधार मानते हैं। वह कहते हैं : "बहुत से आधुनिक विद्वान, बेशक कुछ प्राचीन यूनानियों द्वारा गुमराह किये जाने के फलस्वरूप, यूनानी विज्ञान की सैद्धांतिक प्रखरता में गर्व को उसकी व्यावहारिक उपलब्धियों की उपेक्षा अथवा निषेध की इच्छा से जोड़ने लगे हैं।" अन्य बातों के अलावा, ऐसी प्रवृत्ति जिस बात को लक्षित करने से चूक जाती है वह है : दास प्रथा को न्यायोचित ठहराने के अरस्तू के प्रयास का यूनानी विज्ञान पर विपरीत प्रभाव—बावजूद इस तथ्य के कि अरस्तू व्यक्तिगत रूप से एक महान प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। फेरिंग्टन ने अपनी पुस्तक **यूनानी विज्ञान** में इसका बड़ा अच्छा विश्लेषण किया है। श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय के मामले में विलक्षणता यह प्रतीत होती है कि फेरिंग्टन की पुस्तक के प्रकाशन से दसियों वर्ष पहले, वह यूनानी विज्ञान के बारे में उपलब्ध अपेक्षाकृत सीमित जानकारी के आधार पर ही, हम सबका ध्यान शारीरिक श्रम के प्रति घृणा और उसकी सामाजिक अवमानना के विज्ञान पर पड़ने वाले घातक परिणामों की बुनियादी रूप से उसी स्थिति की ओर, जैसा कि भारत में देखने में आया, आकर्षित करना चाहते थे। उन्होंने लिखा था

"ऐसे ही खतरे यूरोप मे जब-तब उपस्थित हुए, लेकिन दीर्घावधि मे उसके बलशाली बेटे अन्ततः इन खतरों से जूझने में सफल रहे। इस प्रकार 'अरस्तू के इस विचार का यहां प्रभाव पड़ना लाजमी था कि औद्योगिक कार्य, चिन्तन के स्तर को अवनत करता है। इस उक्ति का अनुसरण करते हुए, शिक्षाप्राप्त यूनानी लोग तकनीकी रासायनिक प्रक्रियाओं के अध्ययन से अपने को दूर रखते थे; इन प्रक्रियाओं से जनित प्रतिक्रियाओं की सैद्धांतिक मीमांसा उनकी रुचि से परे की चीज थी।'

"पैरासेल्सस अपने समय के आयुर्विज्ञानिकों को मुंह चिढ़ाते हैं और उनकी तुलना कीमियागरों से ,इन शब्दों में करते हैं : 'वे न तो आरामतलबी दिखाते हैं, न उनमें नफासत-नजाकत की आदत है, न वे मखमली कपड़े पहनते हैं, न उंगलियों को अंगूठियों से सजाये रहते हैं या कमर में चांदी की मूंठ वाली तलवार बांधते अथवा बढ़िया और बारीक दस्ताने पहनते हैं, बल्कि वे लगन से अपने काम में जुटे रहते हैं और भट्ठी के सामने दिन-दिन भर और रात-रात भर पसीना बहाते हैं। मौज-मजे मनाने के लिए वे विदेश नहीं जाते, बल्कि अपनी प्रयोगशाला में ही मस्त रहते हैं। वे चमड़े की पोशाक पहनते हैं जिसमें थैला बना होता है, और एक एप्रन पहनते हैं जिसमें वे अपने हाथ पोंछते रहते हैं। उंगलियों में सोने की अंगूठियां पहनने के बजाय वे अपनी उंगलियां कोयले, मिट्टी और गंदगी में धंसाते रहते हैं। लोहारों और खनिकों

की तरह वे धूल से लथपथ और काले होते हैं, तथा उन्हें अपने साफ व सुन्दर चेहरों पर गर्व नहीं होता।"

"अभी पिछली शताब्दी के मध्य तक इंग्लैंड में रसायनशास्त्र के अध्ययन को गम्भीरता से नहीं लिया जाता था। और, 'रसायनशास्त्रियों को अपने को इस नाम से पुकारने में लज्जा आती थी क्योंकि यह नाम अत्तारों ने अपना लिया था'। यह एक ऐसी परिस्थिति थी जिसके कारण लीबिग को घोषणा करनी पड़ी थी कि इंग्लैंड विज्ञान के उपयुक्त देश नहीं है।"

इस प्रकार, पैरासेल्सस के समय में आयुर्विज्ञानी जब मात्र फैशनेबुल सामाजिक परजीवी बन कर रह गये थे और विज्ञान की पतनोन्मुखता का ही प्रतिनिधित्व कर रहे थे, तो शारीरिक श्रम के प्रति कीमियागरों की लगन में ही पैरासेल्सस को प्रकृति विज्ञान के नवोन्मेष की सच्ची आशा दिखायी दी। और इसी में हमें मिलता है उस सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक का सूत्र जिसने नवजागरण काल के यूरोप में आधुनिक विज्ञान की भावना को जन्म दिया— एक ऐसी परिघटना जिसका स्मरण श्री राय ने 'यूरोप के बलशाली बेटे अन्ततः इन खतरों से जूझने में सफल रहे' शब्दों में किया है। ये वे ही खतरे थे जो अवांछित सामाजिक वातावरण ने विज्ञान के लिए उत्पन्न कर दिये थे। श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय ने अपने ही ढंग से और संक्षेप में, यद्यपि उक्त स्थिति का हवाला दिया है, तो भी हमारे लिए जे. डी. बर्नाल की ओर अभिमुख होना अच्छा रहेगा जिन्होंने इस मुद्दे को अधिक विस्तार से उठाया है, कारण कि यह मुद्दा भारतीय इतिहास में विज्ञान की हमारी समझदारी के लिए निर्णायक महत्व का है।

बर्नाल चाहते हैं कि हम इस बात को नोट करें कि आधुनिक यूरोप में विज्ञान के पुनरुद्धार में सहायक एक महत्वपूर्ण कारक यह है कि—"नवजागरण ने, यद्यपि आंशिक रूप से ही, अभिजात्य सिद्धान्त और जनसाधारण के व्यवहार के बीच चली आ रही खाई को पाटा।" इस तथ्य को विस्तार से जानने के इच्छुक पाठक उनकी पुस्तकों को पढ सकते हैं। यहां हम कुछ संक्षिप्त उद्धरण ही देंगे।

"किन्तु, जो सचमुच नयी चीज थी वह थी कताई, बुनाई, भाण्ड-निर्माण, कांच-निर्माण जैसी व्यावहारिक कलाओं और सर्वोपरि, समृद्धि और युद्ध की मिली-जुली आवश्यकताओं को पूरा करने वाली कलाओं—खनिकों और धातु कर्मियों की कलाओं—को दी जाने वाली इज्जत। क्लासिकी युग की अपेक्षा नवजागरण युग में कलाओं की तकनीकों ने अधिक ध्यान आकर्षित किया। इसका कारण यह था कि ये कलाएं अब गुलामों के नहीं, बल्कि स्वतंत्र जनों के हाथों में थीं और मध्य युग की तरह सामाजिक और आर्थिक

रूप से अब ये नये समाज के शासकों से दूर रखी जाने वाली चीजें नहीं थीं।...

"दस्तकारों के रुतबे में बढ़ोतरी ने उनकी परम्पराओं और विद्वज्जनों की परम्पराओं के बीच सम्पर्कों-कड़ियों को, जो प्रारम्भिक सभ्यताओं के लगभग आरम्भ काल से ही टूटी हुई थीं, फिर से कायम करना सम्भव बना दिया।"

लेकिन आइए हम भारतीय परिस्थिति की ओर लौटें और प्रफुल्ल चन्द्र राय ने जो कहा है, उसका निहितार्थ समझने का प्रयास करें। और, ऐसा हमें इस प्रयोजन से करना है ताकि हम प्राचीन भारत में वैज्ञानिक भावना तथा वैज्ञानिक गतिविधियों के प्रोत्साहन में चार्वाकों और लोकायतों की भूमिका को भली भांति देख सकें। हाथों से किये जाने वाले कार्य की अवमानना, श्री प्रफुल्ल चन्द राय ने जैसा कि दर्शाया है, भारत में वैज्ञानिक भावना के ह्रास के लिए उत्तरदायी सबसे महत्त्वपूर्ण कारक थी और यह ह्रास हमारे देश में वर्ण व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण का अनिवार्य परिणाम था। चार्वाक अथवा लोकायत दर्शन के अवशेषों में यदि वर्ण व्यवस्था के प्रति इस दर्शन के दृष्टिकोण का सूत्र कहीं मिल जाता है, तो विज्ञान के प्रोत्साहन में उसकी भूमिका को समझना कठिन नहीं होगा।

तो प्रश्न है : क्या ऐसा सूत्र कहीं है? महत्वपूर्ण अर्थों में हम इस प्रश्न का उत्तर पहले ही पा चुके हैं। और, उत्तर सकारात्मक है।

ऐसा नहीं कि चार्वाकों के प्रामाणिक लोकप्रिय छन्दों में वर्ण व्यवस्था पर कोई विशद रूप से भर्त्सनात्मक टिप्पणी की गयी है। तथापि, उनमें इतनी पर्याप्त सामग्री है जिससे उस विचारधारात्मक ढांचे को ध्वस्त करने का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है जो वर्ण व्यवस्था के सामाजिक मानदण्ड का स्वयं मूलाधार था। उन्होंने अदृष्ट पर सीधे-सीधे प्रहार किया है—उस अदृश्य शक्ति पर प्रहार किया है जो पिछले जन्म के किसी के कामों (कर्म) के स्वरूप के अनुसार उसके इस जीवन के स्वरूप को निर्धारित करती है, ठीक वैसे ही जैसे इस जीवन का कर्म अगले जन्म के स्वरूप को निर्धारित करने वाला है। आज यदि किसी ने सुविधाभोगी वर्ग के सदस्य के रूप में जन्म लिया है तो इस कारण कि उसने पिछले जन्म में पुण्य कार्य किये होंगे, ठीक जैसे कोई दूसरा व्यक्ति मेहनतकश वर्ग में जन्म इस कारण लेता है क्योंकि पिछले जन्म में उसने पाप किये होंगे। इस धारणा के बिना वर्ण समाज के लिए कोई आधार ही नहीं रह जाता था। लेकिन, चार्वाकों को छोड़ भारतीय दर्शन में अन्यत्र कहीं भी कर्म और अदृष्ट सम्बंधी विचारों को चुनौती देने का प्रत्यक्ष प्रयास हमें नहीं दिखायी देता।

अतएव, श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय के दृष्टिकोण से, भारतीय इतिहास में वैज्ञानिक विकास का भाग्य केवल तभी भिन्न हो सकता था जब चार्वाकों को गम्भीरता से लिया जाता: तब शारीरिक श्रम के प्रति—प्रकृति की जांच पड़ताल की प्रत्यक्ष विधि के प्रति—घृणा की भावना को कमजोर किया जा सकता था तथा विज्ञान की भावना को मजबूत बनाया जा सकता था, जैसा कि नव-जागरण काल के यूरोप में हुआ।

किन्तु चार्वाक जो कुछ कह रहे थे उसे गम्भीरता से नहीं लिया गया। उन्हें गम्भीरता से लेने की सम्भावना तक के प्रति विधि-निर्माताओं ने विशेष रूप से कठोर कदम उठाये तथा अधिक गम्भीर दार्शनिकों को भयाक्रान्त एवं किंकर्तव्यविमूढ़ करने तक से नहीं चूके। लेकिन इस सबके बारे में अगले अध्याय में, जिसमें राजनीति और दर्शन की चर्चा की गयी है।

३. आदर्शवाद बनाम विज्ञान

लेकिन आइए हम श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय की ओर लौटें। यदि वह भारत के पहले ऐसे वैज्ञानिक थे जिन्होंने, स्वयं अपने ढंग से, भारत में विज्ञान की अवनति के कारणों को स्वयं विज्ञान में खोजने की "आन्तरिकतावादी परि-कल्पना" को ठुकराया और उन्हें बाहर—शारीरिक श्रम की निन्दा करने वाले समाज के विकास में—खोजा, तो हमें इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर देना चाहिए कि वह उन विचारधारात्मक अथवा दार्शनिक कारकों से भी परिचित थे जो भारतीय इतिहास में वैज्ञानिक मनोभावना के अधःपतन में सहायक बने थे। यही कारण है कि श्री राय को महसूस हुआ कि इस हालत में भारतीय दार्शनिक परिस्थिति का आलोचनात्मक पुनर्वेक्षण आवश्यक हो गया है। जैसा कि उन्हें समझते देर नहीं लगी, भारतीय दार्शनिक विचारों में कुछ ऐसे थे जो विज्ञान अथवा वैज्ञानिक भावना के पक्ष में थे, जबकि दूसरे विचार बुनियादी तौर से उनके प्रति शत्रुतापूर्ण थे। श्री राय यद्यपि दर्शन के क्षेत्र के विशेषज्ञ नहीं थे, तो भी प्रकटतः भारतीय दार्शनिक परिस्थिति के बारे में उन्हें इतनी समझदारी तो थी ही कि उक्त दोनों किस्म के विचारों के बीच अंतर कर सकें। इस तरह, वह यह देख सके कि जनमानस में कणाद के नाम से सम्पृक्त परमाणुवादी दर्शन की प्राचीन भारतीय संदर्भ में महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक-क्षमताएं थीं। वह यह भी देख सके कि विश्व के अस्तित्व का निषेध करने वाला मायावाद, जो आम तौर से शंकर के वेदान्त के नाम से सुविदित है, विज्ञान के प्रति असहिष्णुतापूर्ण हुए बिना नहीं रह सकता था। इसलिए, श्री राय के मतानुसार, शंकर भी भारतीय इतिहास में विज्ञान के

अधःपतन के उत्तरदायित्व से नहीं बच सकते थे। भारतीय संदर्भ में यह ऐसा मत था जिसे उद्घोषित कर सकना—जहां शंकर के नाम को प्रायः ही ईश्वर के अवतार की संज्ञा के रूप में लिया जाता है—बड़े साहस का काम था। किन्तु, श्री राय ने इस साहस का परिचय दिया और कहा :

"वेदान्त दर्शन भी, जो शंकर द्वारा संशोधित और परिवर्धित रूप में भौतिक जगत के अवास्तविक होने की शिक्षा देता है, भौतिक विज्ञान के अध्ययन-मनन को कुंठित करने के लिए बड़ी हद तक उत्तरदायी है। कणाद और उनकी प्रणाली पर कटुतापूर्ण टिप्पणियां करने में शंकर नहीं चूके।"

"वेदान्त सूत्र विषयक शांकर भाष्य से यहां प्रस्तुत एक या दो उद्धरण ही मेरे आशय को स्पष्ट कर देंगे। शंकर ने कहा है—

"तदेवमसारतरतर्कसंदृब्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वाच्छ्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवानपेक्षाऽस्मिन्परमाणुकारणवादे कार्या आर्यैः श्रेयोर्थिभिरिति वाक्यशेषः।"

अर्थात, इस प्रकार परमाणु कारणवाद असारतर तर्कों से विरचित तथा ईश्वर कारणत्व प्रतिपादक श्रुति के विरुद्ध, श्रुतिप्रवण (श्रुति समर्थक) शिष्ट मनु आदि से अस्वीकृत होने से, श्रेय चाहने वाले आर्य पुरुषों को परमाणु कारणवाद से अत्यन्त उपेक्षा भाव रखना चाहिए, ऐसा वाक्यशेष है।

फिर आगे वह कहते हैं :

"वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम।"

अर्थात, पहले ही कह दिया गया है कि कुतर्क के योग, वेद विरुद्ध और शिष्ट पुरुषों से अस्वीकृत होने से वैशेषिक सिद्धान्त स्वीकार योग्य नहीं है।

इस तरह के कथन पर श्री राय की टिप्पणी है :

"वर्ण व्यवस्था में जकड़े तथा वेदों, पुराणों और स्मृतियों में कही बातों व आदेशों को अकाट्य मानने वाले लोगों के बीच, जिनकी बुद्धि और मस्तिष्क निष्क्रिय तथा पंगु हो गये थे, कोई ब्यायल जैसा व्यक्ति नहीं पैदा हो सकता था जो आम लोगों के मार्ग-दर्शन के लिए स्वस्थ सिद्धान्त निरूपित करता कि : '...मैंने देखा कि कई रसायनविदों ने अपनी प्रशंसनीय लगन के फलस्वरूप ऐसे विविध रसायन निर्मित किये हैं, ऐसी अनेकानेक परिघटनाओं का पता लगाया है, जिनकी उनके संकीर्ण सिद्धान्तों से अपेक्षा नहीं की जा सकती थी : लेकिन रसायन के इन दीवानों के आम समुदाय में दवा-दारू बनाने या सोने-चांदी आदि धातुओं को चमकाने के अलावा कोई दूसरी प्रवृत्ति न देख

कर मुझ में भावना जागी कि मैं उनकी कला पर, किसी वैद्य-हकीम या सुनार-लोहार की तरह नहीं बल्कि एक दार्शनिक की दृष्टि से, विचार करूं। और, इसी आधार पर, मैंने एक बार रासायनिक दर्शन की एक परियोजना तैयार कर डाली; इसे पूर्ण बनाने में मेरे प्रयोग अथवा पर्यवेक्षण यदि कोई योगदान करते हैं तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी।

" '...और, सचमुच, यदि लोग अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के प्रयत्न के बजाय दर्शन को उन्नत बनाने के प्रयत्न की ओर ध्यान देने लगें तो उन्हें यह समझाना आसान हो जायगा कि संसार की जो सबसे बड़ी सेवा वे कर सकते हैं वह यह है कि वे अपनी पूरी तन्मयता के साथ प्रयोगों में जुटें और अपने पर्यवेक्षणों को एकत्रित करें—बजाय इसके कि समाधान की अपेक्षा रखने वाली सभी परिघटनाओं को लक्षित करने से पहले ही सिद्धान्तों के निरूपण की कोशिश में जुट पड़ें।' "

श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय ने आदर्शवाद बनाम विज्ञान के प्रश्न पर जो कुछ कहा है उसकी और अधिक व्याख्या की गुंजाइश है। विस्तृत अध्ययन के बावजूद, भारतीय दर्शन उनकी विशेषज्ञता का क्षेत्र नहीं था। यही गुंजाइश का कारण है। उन्होंने अपना आशय स्पष्ट करने के लिए, कणाद की परमाणुवादी परिकल्पना के विरुद्ध शंकर की आलोचनात्मक टिप्पणी को चुना है। ऐसा अकारण ही नहीं है। श्री राय द्वारा दिये गये उद्धरणों को पढ़कर प्राचीन यूनान की परिस्थिति का स्मरण हो आता है। यूनान के महान आदर्शवादी दार्शनिक प्लेटो (अफलातून) का भी यही मत था कि डेमोक्रिटस के परमाणुवाद को निषिद्ध घोषित कर दिया जाना चाहिए तथा प्रकृति-विज्ञान के उस प्रकाश पुंज को बुझा दिया जाना चाहिए जिसे सर्वप्रथम प्राचीन आयोनियनों ने प्रज्वलित किया था। इस सबकी बहुत विशद चर्चा आप जॉर्ज थॉमसन एवं बेंजामिन फेरिंग्टन की रचनाओं में पढ़ सकते हैं।

इस बात में शायद ही किसी संदेह की सम्भावना है कि परमाणुवाद बुनियादी तौर से भौतिकवादी दृष्टिकोण की एक बहुत महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति था। न ही इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि यदि उसे बिना किसी रुकावट के विकसित होने दिया जाता, तो परमाणुवाद प्रकृति-विज्ञान के हमारे सामान्य ज्ञान-कोष में बहुत योगदान कर सकता था। किन्तु भारतीय दार्शनिक परिस्थिति की विचित्रता को नहीं भुला दिया जाना चाहिए। परमाणुवाद को अनवरुद्ध रूप से नहीं विकसित होने दिया गया। कणाद प्रणीत **वैशेषिक-सूत्र** से आरम्भ कर, इस दर्शन में अरुचिकर समझौते के चिह्न प्रारम्भ से ही साफ-साफ दिखायी देने लगे थे। उसे उन मसलों पर बनावटी अभिरुचि

प्रकट करनी पड़ी जिनसे आन्तरिक रूप से उसका कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता था। इसके पाठ का श्रीगणेश ही विचित्र है : धर्म की चर्चा की बात कही गयी है और धर्म की परिभाषा यह की गयी है कि वह सुसम्पन्नता के साथ-साथ भौतिक बन्धनों से मुक्ति (मोक्ष) की ओर ले जाता है। इसके साथ ही यह भी जोड़ दिया गया है कि धर्म विषयक ज्ञान के एकमात्र वैध स्रोत धर्मग्रन्थ हैं। इससे भी आगे, सदाचार की व्याख्या यह की गयी है कि मानक रूढ़ तरीकों से ब्राह्मणों को भोजन कराना और उन्हें दक्षिणा देना ही सदाचार है। इसी तरह की और बातें हैं। किन्तु वास्तविक वैशेषिक दर्शन के, जो अनेक सारत: इहलौकिक कोटियों के आधार पर प्रकृति को समझने का एक व्यवस्थित प्रयास मात्र था, मूल तत्व से इस सबका कुछ भी लेना-देना नहीं था।

तो, इस दर्शन के पाठ में तमाम अप्रासंगिक बातों के पैबन्द क्यों लगाये गये? इसका एक ही कारण, जैसा कि अगले अध्याय में हम अधिक पूर्णता से देखने का प्रयत्न करेंगे, किसी तरह विधि-निर्माताओं की सेंसर-व्यवस्था से बच निकलना हो सकता था। इन विधि-निर्माताओं का निर्देश था कि दर्शन-वेत्ताओं के लिए कोई भी ऐसी बात कहना वर्जित है जो धर्मग्रंथों के पूर्णत: अनुरूप न हो।

अतएव दर्शनवेत्ताओं को, प्रकटत: ऐसे निर्देशों के भय के फलस्वरूप, किसी न किसी रूप में धर्मपरायणता का दिखावा करना ही पड़ता था, जबकि उनके वास्तविक दर्शन को उससे कुछ भी लेना-देना नहीं होता था। अपने दर्शन को बचाने का उनके सामने यही एकमात्र उपाय था, हालांकि इसकी उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ी। उस आम बौद्धिक वातावरण में, जो अंतत: स्थायी बन गया, अपने विचारों पर बाह्य बातों के जो पैबन्द इन दर्शनवेत्ताओं ने लगाये उन्हें उनके परवर्ती अनुयायी आगे चलकर उनके विचारों का सहज अंग मान बैठे और अपने भरसक इनके न्यायोचित होने की व्याख्या करने लगे। एक स्पष्ट उदाहरण देखिए। न्याय-वैशेषिक के एक प्रखर प्रतिनिधि, उदयन (लगभग दसवीं शताब्दी) परमाणुवादी परिकल्पना के लिए धर्मग्रंथों अथवा वेदों की संस्वीकृति दर्शाना चाहते हैं। किन्तु इसके लिए उनके सामने जो एकमात्र उपाय था वह यह तर्क देना कि गति का सूचक शब्द—**पतत्र**—वेदों में भी आया है। और चूंकि परमाणु गतिशील है, अत: **पतत्र** शब्द से प्रकट है कि परमाणुवाद को वैदिक संस्वीकृति प्राप्त थी। लेकिन शब्दकोश हमें बताते हैं **पतत्र** शब्द का वास्तविक अर्थ है "गिरने से रोकने वाला" या अधिक सरल रूप में कहें तो, पक्षियों के पंख। तो भी, उदयन इतने उद्भट विचारक थे कि उनका मजाक बनाने का दुस्साहस बड़ी ढिठाई मानी जायगी।

विधि-निर्माताओं के निर्देशों के फलस्वरूप पंगुता को प्राप्त हुए परमाणुवाद के सामने भारतीय दर्शन में उपस्थित दूसरा खतरा भी कम गंभीर नहीं था। प्रकृति का गहन से गहनतर ज्ञान अर्जित करने के उपकरण के रूप में प्रयुक्त होने के अवसर से वंचित हो जाने पर, अब उसके सामने निस्सार तर्कवादिता अथवा नीरस वितंडावाद का रूप धारण करने की ही गुंजाइश रह गयी थी। वह इसी दिशा में विकसित हो भी सका। इसका प्रमाण स्वयं वह चीज है जिसे नव्य-न्याय कहा जाता है।

हमने यह सब केवल एक बात पर बल देने के लिए कहा है। श्री प्रफुल्ल चन्द्र राय निस्संदेह सही थे जब वह दावा कर रहे थे कि चरम मायावादी आदर्शवाद को जो जबर्दस्त बढ़ावा मिला—और यह भौतिकवादी प्रवृत्ति का दमन करके ही दिया जा सकता था—वह हमारे सांस्कृतिक इतिहास में प्रकृति विज्ञान और वैज्ञानिक भावना को क्षति पहुंचाने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारधारात्मक कारक था। भौतिकवादी धारा के एक उदाहरण के रूप में, जिसके विरुद्ध आदर्शवादियों ने वस्तुतः जेहाद छेड़ रखी थी, उन्होंने वैशेषिकों के परमाणुवाद का उल्लेख किया है। भारतीय दर्शन जिन लोगों की विशेषज्ञता का क्षेत्र है—और जो लोकायतों या चार्वाकों के विरुद्ध चलाये गये दीर्घकालीन निन्दा अभियान से जनित आम पूर्वाग्रहों से मुक्त है—उनकी दृष्टि में प्रकृति विज्ञान के पोषण में सक्षम धारा का लोकायत या चार्वाक दर्शन अधिक उपयुक्त उदाहरण हो सकता था—एक ऐसी धारा जिसका दमन विज्ञान के विकास के लिए अधिक विनाशकारी सिद्ध हुआ।

इसका कारण समझना कतई कठिन नहीं। लोकायतों या चार्वाकों को समझौते की जरूरत नहीं थी, न तो समाजशास्त्र में और न सीमित अर्थों में दर्शन के क्षेत्र में—फिर धर्मग्रन्थों के अतिक्रमण की प्रवृत्ति के विरुद्ध विधि-निर्माताओं की धमकियां कितनी ही खूंखार क्यों न रही हों।

४. भौतिकवाद द्वारा प्रकृति विज्ञान के पोषण के प्रत्यक्ष प्रमाण

अब तक हमने मुख्यतः नकारात्मक पद्धति का अनुसरण करते हुए यह पता लगाने का प्रयत्न किया है कि किस चीज को पहुंचायी गयी क्षति भारतीय सांस्कृतिक विरासत में प्रकृति विज्ञान के लिए भी क्षति सिद्ध हुई। अब हम सकारात्मक रूप से यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार प्रकृति विज्ञान ने, फिर उसका विकास कितना ही संकुचित क्यों न रहा हो, अपने अनिवार्य विचारधारात्मक आधार के लिए वास्तव में भौतिकवाद से

ही प्रेरणा ग्रहण की थी। पुनरावृत्ति दोष से बचने के लिए, हमारी चर्चा का यह अंश अनिवार्यत: संक्षिप्त होगा क्योंकि लोकायत मत के उन अनेक लक्षणों का हम पहले ही जिक्र कर चुके हैं जिनके समावेश के बिना विज्ञान आगे नहीं बढ़ सकता।

ज्ञानशास्त्रीय दृष्टि से ये इस प्रकार हैं :

१. अभिज्ञान की प्राथमिकता तथा अनुमिति की वैधता वहीं तक हैं जहां तक वे प्रत्यक्ष-ज्ञान के दिखाये मार्ग पर आगे बढ़ती हैं। अनेक परिस्थितिगत प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि लोकायतों का ठीक यही दावा था, हालांकि दर्शनवेत्ताओं में न्याय-वैशेषिकों ने इसी बात को अनेकानेक शब्दों में सूत्रित किया। वैज्ञानिकों की मण्डली में ये कीमियागर और परमाणुवादी थे जिन्होंने प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध पर आधारित ज्ञान के महत्व पर सबसे ज्यादा बल दिया, हालांकि इस बात की व्याख्या आयुर्वैज्ञानिक ग्रंथ **चरक-संहिता** में की गयी कि वैध अनुमिति के लिए प्रत्यक्ष-इन्द्रिय बोध के पद-चिह्नों पर चलना क्यों आवश्यक है। इसके विपरीत, चरम आदर्शवाद का दावा था कि सामान्य जीवन द्वारा स्वीकार्य ज्ञान के किसी स्रोत की कोई वैधता नहीं हो सकती। यह दावा वास्तव में धर्मग्रंथों की उद्घोषणाओं को वैध ठहराने के उद्देश्य से किया गया था, ताकि प्रकृति विज्ञान को काल्पनिक मृग-मरीचिकाओं के पीछे निरर्थक दौड़ बताया जा सके।

२. सत्य की कसौटी व्यवहार है। इस तथ्य को शब्दों में यद्यपि न्याय-वैशेषिकों ने (और बौद्ध मतावलम्बी दर्शनवेत्ताओं के एक हिस्से ने भी) सूत्रित किया, तथापि लोकायतों के प्रामाणिक लोकप्रिय छन्दों में यह दावा अन्तर्निहित मान्यता के रूप में विद्यमान है। यह सिद्धान्त चिकित्सा विज्ञान के लिए आधारभूत रूप से अनिवार्य था, जैसा कि **चरक-संहिता** में बार-बार इस बात पर दिये गये बल से सुप्रकट है।

इन ज्ञानशात्रीय बिन्दुओं की बात तो अलग रही, लोकायत कुछ ऐसी सामान्य स्थितियों पर भी बल दे रहे थे जो प्रकृति-विज्ञान की समझ के लिए अनिवार्य हैं। इनमें एक स्थिति है **स्वभाव** सम्बंधी—"प्रकृति" सम्बंधी—उनका विचार, एक ऐसा विचार जिसने आगे चल कर अधिक स्पष्ट रूप में "प्रकृति के नियम" की संज्ञा ग्रहण की। इसकी स्वीकृति के बिना प्रकृति की परिघटनाएं या तो मात्र आकस्मिक चीजें रह जाती थीं अथवा पारलौकिक शक्तियों का कृतित्व। ये दोनों ही प्रकृति की किसी प्रकार की जांच-पड़ताल को ही अप्रासंगिक बना देती हैं। समाज विज्ञान की दृष्टि से **स्वभाव** के विचार का विशेषत: क्रान्तिकारी महत्व था। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि उसने अदृष्ट

और कर्म की अवधारणाओं को एकदम अर्थहीन बना दिया था—और ये ही वर्णाश्रम व्यवस्था के बुनियादी सैद्धांतिक आधार थे।

इनके अलावा, प्राचीन भारतीय भौतिकवाद की एक अन्य अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि थी जो हमारे युक्तियुक्त औषधिविज्ञान के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई। यह इस तत्वशास्त्रीय स्थिति से उद्भूत थी कि प्रकृति में प्रत्येक चीज—जड़ भी और चेतन भी—पदार्थ से निर्मित है। जिस ऐतिहासिक संदर्भ में यह सिद्धान्त विकसित हुआ यदि उसे ध्यान में रखा जाय तो यह अपेक्षा करना स्पष्ट विसंगति होगी कि हमारे प्राचीन भौतिकवादी पदार्थ के विषय में बहुत परिष्कृत दृष्टिकोण पर पहुंच सकते थे। उन्हें चार-रूपों-में-पदार्थ के किंचित अपरिपक्व सिद्धान्त के आधार पर ही आगे बढ़ना था। तो भी, विलक्षण बात यह है कि इस नितांत अल्पविकसित दृष्टिकोण के आधार पर भी उन्होंने मनुष्य और प्रकृति सम्बन्धी एकीकृत सिद्धान्त की ओर कदम बढ़ाये। इस एकीकृत सिद्धान्त की अन्तर्निहित विचारधारात्मक विशिष्टता तो अलग, यह प्राचीन भारत में आयुर्विज्ञान के मूलाधारों के लिए अत्यन्त फलप्रद सिद्ध हुआ। इस सिद्धांत की सर्वोपरि रुचि पर्यावरणीय पदार्थ तथा शारीरिक पदार्थ की अंतर्क्रिया में थी—हमारे चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं को निर्मित करने वाले पदार्थ एवं मानव शरीर को निर्मित करने वाले पदार्थ के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया में थी। प्राचीन भारत में रोगों के सम्बन्ध में समझदारी तथा उनके उपचार के लिए औषधियों के प्रयोग की पद्धति, दोनों ही इस पर आधारित थी। शरीर के अंग-प्रत्यंगों में किसी रूप में किसी पदार्थ की अतिशय वृद्धि अथवा उस पदार्थ की क्षीणता रोग का कारण मानी जाती थी। तदनुसार, शरीर में पदार्थ-पुनर्व्यवस्थापन को चिकित्सा तकनीक का अनिवार्य आधार माना गया। जब यह समझा जाता कि कोई रोग किसी पदार्थ की शरीर में अतिशयता के कारण हो गया है, तो पदार्थ निर्मित कोई ऐसी प्राकृतिक वनस्पति चुनी जाती और इस रूप में रोगी को दी जाती जिससे कि रोग पैदा करने वाले पदार्थ की अतिशयता घटायी जा सके। जब कोई रोग शरीर में किसी रूप में पदार्थ की कमी के कारण उत्पन्न हुआ समझा जाता, तो उस रोग के उपचार की व्यवस्था ऐसी प्राकृतिक चीज के चयन से की जाती जिसका पदार्थ-तत्व शरीर में आयी कमी को पूरा कर दे।

इस प्रकार, पदार्थ के ज्ञान के बिना चिकित्सा विज्ञान की ओर बढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता था। फलतः, यह अकारण नहीं था कि आयुर्विज्ञान के ग्रंथों में घोषणा की गयी कि औषधिविज्ञान में पदार्थ से बढ़ कर किसी दूसरी चीज का महत्व नहीं है। चरक-संहिता में, औषधिक-ज्ञान के मुख्य प्रवक्ता के रूप में जिन अत्रेय नामक विभूति से हमारा परिचय होता है, उनका दावा

था कि : "ज्ञान की जिस शाखा से हमारा सम्बन्ध है उसके अनुसार, प्रत्येक वस्तु पांच रूपों में उपलब्ध पदार्थ से निर्मित है; इनमें से कुछ चेतना से मण्डित हैं, अन्य चेतना रहित हैं।" सुश्रुत-संहिता की घोषणा थी कि दर्शनवेत्ता जिस विषय पर चाहे, वाद-विवाद करते रह सकते हैं; किन्तु, जहां तक हमारे विषय का सम्बन्ध है, पदार्थ से परे मानी आने वाली किसी चीज में हमें दिलचस्पी नहीं।

सातवां अध्याय

प्राचीन भारत में दर्शन और राजनीति

१. प्रारम्भिक टिप्पणियां

कुछ पुण्यात्मा ईसाइयों को वर्जिन मेरी की अकलुष अवधारणा में अब भी विश्वास है। हमारी चरक-संहिता इसे स्वीकार नहीं करेगी। वर्तमान से अतीत की अनुमिति के उदाहरण के रूप में, वह स्त्री-पुरुष के संभोग से गर्भाधान का उल्लेख करती है। किन्तु यह तथ्य धर्मग्रन्थों में अटूट आस्था रखने वालों को अपने स्थान से नहीं डिगा सकता।

ऐसी ही हालत हमारे उन दर्शनवेत्ताओं की है जो उपनिषदों में जगत के निषेध के दर्शन को परम सत्य मानते हैं। कारण यह कि उपनिषद धर्मग्रन्थ माने जाते हैं। हमारे लोकायत और चार्वाक इन बातों पर ठहाका मार कर हंस पड़ते। उनके निकट तो धर्मग्रन्थों का सत्य निरी धोखाधड़ी है। धोखाधड़ी निरी भूल से कुछ अधिक चीज होती है: कोई भूल उस समय धोखाधड़ी बन जाती है जब उसमें शोषण की वृत्ति आ जुड़ती है। चार्वाकों के मतानुसार विशुद्ध आत्मा का दर्शन धोखाधड़ी है क्योंकि इसका प्रयोजन मुट्ठी भर सामाजिक परजीवियों द्वारा विशाल श्रमरत जन-समुदाय का शोषण करना होता है। दूसरे शब्दों में, विशुद्ध आत्मा के दर्शन का एक राजनीतिक प्रयोजन है।

आज चार्वाकों के किसी भी तरह से समर्थन का अर्थ, उक्त दावे के समर्थन का समावेश समझा जायगा। निश्चय ही, इस पर बड़ी ही घृणा के साथ असन्तोष प्रकट किया जायगा। दर्शन तो आखिर सत्य की खोज है। इसके संदर्भ में किसी राजनीतिक प्रयोजन की बात कोई कह ही कैसे सकता है? और फिर, विशुद्ध चेतना के दर्शन के पीछे राजनीति की बात कही ही कैसे जा सकती है?

अपनी ओर से इस प्रश्न का उत्तर देने के बजाय, हम यह कार्य रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लिए छोड़ दे सकते हैं।

२. एक बार रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो कहा था

एक बार बड़ी तीक्ष्ण स्पष्टता के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर की दृष्टि के सम्मुख विशुद्ध चेतना के इसी दर्शन का राजनीतिक प्रयोजन उभर कर आया था।

बात १९३२ की है। उन दिनों वायुयान से यात्रा वह चीज नहीं थी जो आज है। कवि को फारस देश से निमंत्रण मिला था। अब इस देश को ईरान कहते हैं। वायुयान से उनकी यात्रा का प्रबन्ध किया गया था। हवाई सफर का उनका यह दूसरा ही अनुभव था। इससे पहले उन्होंने एक बार वायुयान से सिर्फ लन्दन से पेरिस तक की यात्रा की थी।

फारस के रास्ते में कवि और उनके साथ के लोगों को कुछ समय के लिए बगदाद में ठहरना पड़ा। वहां उन्हें बताया गया कि ब्रिटिश एयर फोर्स (ब्रिटिश वायुसेना) कुछ बागी शेखों के गांवों पर बमबारी की मुहिम चला रही है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनकी दृष्टि में यह सीधे-सीधे हत्या और नरसंहार था। तो भी कितना साधारण था यह सब! कितने अविश्वसनीय रूप से साधारण था मानव प्राणियों के लिए निर्दोष और दोषियों के बीच भेद की चिन्ता किये बिना, पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के बीच भेद किये बिना, अपने ही सहप्राणियों को मौत के घाट उतार देना! उच्च ऊंचाई से, जहां पहुंचने पर भौतिक जगत की वास्तविकता धूमिल होती-होती विलीन हो जाती थी और उसके साथ ही, निर्दोष और दोषी के बीच भेद कर सकने की हर भावना भी लुप्त हो जाती थी, कुछ आयुध गिराने भर की बात थी!

प्रकटतः, ऊंचाई पर पहुंचने की तकनीक में ही कोई बात थी जो मानव प्राणियों के लिए अमानवीय कृत्य कर बैठना इतनी साधारण चीज बना देती थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस सब पर विचार करते रहे। हवाई यात्रा के स्वयं अपने अनुभव के आधार पर वह इसे समझने का प्रयत्न करते रहे। फलस्वरूप, उन्होंने ऊंचाई पर पहुंचने के एक दूसरे रूप पर पुनर्विचार करना शुरू किया, अर्थात आध्यात्मिक चिन्तन की मुक्त उड़ान द्वारा ऊंचाई पर पहुंचने की बात पर। और, अनायास बड़े नाटकीय रूप से युगों-सम्मानित कुछ दार्शनिक विचारों का—विशेषकर उन दार्शनिक विचारों का जो जगत की वास्तविकता को मिथ्या बताते थे—राजनीतिक प्रयोजन उनकी दृष्टि के सामने साकार हो उठा।

हम कवि के विचार-क्रम को उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत रूप में समझने का

प्रयास करेंगे, हालांकि उनकी मूल रचना में जो अप्रतिम व्यञ्जना शक्ति है उसे अनुवाद में सुरक्षित रख सकना अवश्य ही कठिन है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है :

"वायुयान जैसे ही उड़ा और अधिकाधिक ऊंचाई पकड़ने लगा, पृथ्वी से हमारी ज्ञानेन्द्रियों का सम्पर्क क्षीण से क्षीणतर होने लगा। अन्ततः यह केवल चाक्षुष संवेदन वाले सम्पर्क तक सीमित रह गया और वह भी ऐसा जिसमें तात्कालिकता का कोई भाव न था। यहां तक तो निस्सीम विविधताओं वाली पृथ्वी के यथार्थ की एक निश्चयात्मक अनुभूति बनी हुई थी। किन्तु अब आगे वह अधिकाधिक अस्पष्ट होने लगी। पहले जो एक त्रि-आयामी वास्तविकता थी वह द्वि-आयामी सपाट रेखांकन बन कर रह गयी। सृष्टि की विविधताएं अपनी स्पष्ट पहचान अवकाश और समय के सुपरिभाषित संदर्भ में ही संरक्षित रख पाती हैं। इस संदर्भ के तिरोहित होने के साथ, सृष्टि विलोपन की ओर प्रवृत्त हो जाती है। ऐसा लग रहा था कि इस प्रक्रिया में पृथ्वी विलुप्त होती जा रही है। वह धुंधली होती-होती अस्तित्वहीन होती जा रही थी और हमारी चेतना पर उसकी वास्तविकता के दावे का कोई दबाव नहीं रह गया था।

"ऐसी मनोदशा में कोई जब विध्वंस के आयुध बरसाने लगता है तो वह भयंकर रूप से नृशंस बन जा सकता है। जिनकी वह हत्या करने को उद्यत होता है उनके वास्तविक अपराध के आकलन पर किसी प्रकार की हिचकिचाहट से उसके हाथ नहीं कांपते। आकलन का मौका ही नहीं आ पाता क्योंकि जिन तथ्यों और आंकड़ों पर ऐसा आकलन आधारित हो सकता है, वे उसकी दृष्टि से विलुप्त हो जाते हैं। मनुष्य अपने स्वभाव से ही पृथ्वी से जुड़ा हुआ है। किन्तु पृथ्वी की वास्तविकता का उन्मूलन होते ही, वह चीज जो उसे उससे जोड़े हुए थी लुप्त हो जाती है।

"गीता जिस दर्शन का उपदेश देती है वह भी वायुयान में इसी प्रकार की उड़ान जैसा है। अर्जुन के संवेदनशील मस्तिष्क को वह ऐसी भ्रमकारक ऊंचाई पर ले जाता है जहां से, नीचे देखने पर, मारने वाले और मरने वाले के बीच, कुटुम्बी और शत्रु के बीच, कोई अन्तर कर सकना अर्जुन के लिए संभव नहीं रह जाता। दार्शनिक तत्वों से निर्मित इस प्रकार के बहुत से अस्त्र मनुष्य के शस्त्रागार में विद्यमान हैं। ये यथार्थ को दृष्टि से ओझल कर देने का प्रयोजन पूरा करते हैं। ये साम्राज्यवादियों के सिद्धान्तों में, समाजशास्त्र में तथा धर्मशास्त्र में मौजूद हैं। इनसे जिन लोगों पर मृत्यु बरसायी जाती है उनकी सांत्वना के लिए मात्र कुछ शब्द बच रहते हैं : न हन्यते हन्यमाने शरीरे। 'अर्थात यह (आत्मा) नहीं मरती, मरता केवल शरीर है।'" (पारस्य-यात्री)।

मैं, निस्संदेह, जानता हूं कि उक्त गद्यांशों का इससे अधिक उत्तम अनुवाद हो सकता है। लेकिन उससे इनका तर्क और अधिक पैना—मारक—ही बनेगा। जो भी हो, एक सीधे-सादे तथ्य से नहीं बच निकला जा सकता। वह यह कि दर्शन की कुछ धाराओं में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को बड़े ही खतरनाक सामाजिक प्रयोजन दिखायी दिये। उन्हें इनमें हत्या और दुराचार दिखायी दिये। उनके निकट, ये मानव चेतना के प्रति विश्वासघात थे।

लेकिन यह तो केवल १९३२ की बात है। पता नहीं समकालीन साम्राज्यवाद की विचारधारात्मक मरुभूमि को देख कर, जब विचारहीनता को पाशविकता से संयुक्त कर देने की भरपूर कोशिशें की जा रही हैं, वह क्या कहते। पता नहीं हिरोशिमा और नागासाकी पर सचमुच ही परमाणु बम बरसाये जाने की—वह भी तब जब जापान की राजनीतिक और सैनिक पराजय अवश्यंभावी थी तथा लाखों निरपराध लोगों को निस्संकोच मौत के घाट उतार देने में कोई तुक नहीं रह गयी थी—उनकी प्रतिक्रिया क्या होती। पता नहीं सर्वनाशक जैव तथा नाभिकीय आयुधों के विकास को न्यायोचित ठहराने वाले वर्तमान सिद्धांतों के प्रति उनका आक्रोश किन शब्दों में फूट पड़ता।

लेकिन आइए हम इस ऊहापोह में न फंसें कि उन्होंने क्या कहा होता। वह जो कुछ कह चुके हैं, उसमें ही हमारी दार्शनिक विरासत पर विचार और पुनर्विचार करने के लिए बहुत कुछ मौजूद है।

ऊपर उद्धृत विचारों ने उनके अनेक समकालीनों को बहुत विचलित कर दिया था। और इनमें उनके कुछ निकटतम सहयोगी भी थे। लेकिन यह देखना और समझना जरूरी है कि इसका मुख्य कारण क्या था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी बात को घृणापूर्ण व्यंग्य सहित जिस संस्कृत वाक्य से समाप्त किया है—**न हन्यते हन्यमाने शरीरे**—वह सामान्यतः **गीता** का माना जाता है। यह बात सच है; लेकिन पूरी सच बात इतनी ही नहीं है। स्वयं **गीता** में यह **कठोपनिषद्** से उद्धृत है। **कठोपनिषद्** में पूरा श्लोक इस प्रकार है :

> **"न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।**
> **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥**
> **हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।**
> **उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥"**

अर्थात्, "यह (चेतन जीव) न तो उत्पन्न होता है, न मरता है। न यह किसी कारण से उत्पन्न हुआ है, न पहले कभी हुआ था।

> यह अजन्मा है, नित्य है, निरंतर है, पुरातन है,
> शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरता।

अगर कोई मारने वाला समझता है कि मैं मार रहा हूं,
अगर कोई मरने वाला समझता है कि मैं मर रहा हूं,
तो वे दोनों नहीं जानते
न यह मारता है, न मरता है।"

गीता वस्तुत: इसे **कठोपनिषद्** से शब्दश: ले लेती है।

उपनिषद् के किसी भी अध्येता को यह पद्यांश सुविदित है। किन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर उपनिषदों के मात्र सामान्य पाठक होने से कुछ अधिक भी थे। अपने युवाकाल से ही वह औपनिषदिक अध्ययन में निमग्न रहे थे। इसलिए, यह कल्पना करना नितांत निराधार होगा कि, संभवत:, वह यह न जानते होंगे कि वह किस पर चोट कर रहे हैं।

उक्त औपनिषदिक विचार **गीता** में जिस रूप में पुनरावृत्त हुआ है, दरअसल, वह उसी पर चोट कर रहे थे।

इन बातों में एक और छोटी-सी बात जोड़ दी जानी जरूरी है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर औपनिषदिक चिन्तन में इतनी अच्छी तरह निष्णात थे कि उनसे दार्शनिक सुसंगतता के मामले में चूक करने की बात नहीं सोची जा सकती। वह इस मान्यता के वशीभूत नहीं हो सकते थे कि मूल विचार, अर्थात यह कि शरीर के मारे जाने पर भी आत्मा नहीं मरती, उपनिषदों में किसी छिटपुट विचार के रूप में जुड़ गया होगा। बुनियादी तथ्य यह है कि यह विचार उक्त उपनिषद में प्रतिपादित दर्शन का अविच्छिन्न अंग है: उस समूचे दार्शनिक दृष्टिबिन्दु से इस विचार को पृथक कर सकना असम्भव है जिसकी यह एक व्याख्या मात्र है। इस विचार पर चोट का अर्थ, सारांश रूप में, स्वयं उस दर्शन पर चोट है।

तब, क्या है वह दर्शन?

यह विशुद्ध चेतना अथवा विशुद्ध आत्मा का दर्शन है जिसे परम यथार्थ के पद पर पहुंचा दिया गया है, और उस पद पर पहुंचने पर रक्त-मांस से बने पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों वाला यह भौतिक जगत एक किस्म का काल्पनिक छायाचित्र भर रह जाता है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा अथवा चेतना का इस नाशवान शरीर से सम्बन्ध—अस्थायी सम्बन्ध तक—मानना मात्र अज्ञान की या कल्पना के एक प्रकार के विकार की उपज है। यही कारण है कि इस दर्शन के लिए चुना गया एक दूसरा नाम है: **शारीरक**। यह नाम स्वयं अपनी कहानी कह देता है। इसकी व्युत्पत्ति **शरीर** शब्द से है, और इसमें कन् प्रत्यय जोड़ दिया गया है। इस प्रत्यय को जोड़ने का प्रयोजन इसके प्रति घृणा, अवमानना अथवा अवहेलना की भावना को प्रकट करना है। संक्षेप में, **शारीरक**

का अर्थ है, विशुद्ध आत्मा के—अस्थायी तौर पर ही सही—कथित रूप से दूषित शरीर में निवास से कलुषित हो जाने का विचार !

भारतीय दर्शन की एक पारम्परिक धारा के अनुसार, जो आज भी अत्यधिक शक्तिशाली है, उक्त विचाराधीन दृष्टिकोण औपनिषदिक ज्ञान का सारतत्व है। यही कारण है कि इस दर्शन के सर्वाधिक प्रख्यात समर्थक शंकर ने अपने वृहद ग्रंथ का शीर्षक शारीरक-भाष्य रखा। यह उस रचना (जो ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तसूत्र के नाम से जानी जाती है) की मीमांसा है, जिसका उद्देश्य उपनिषदों के दर्शन को एक व्यवस्थित रूप प्रदान करना था।

मैंने यह सब एक विशेष बात पर बल देने के लिए कहा है। यह विचार कि शरीर के मार दिये जाने पर भी आत्मा नहीं मरती, उस दर्शन का अंतरंग लक्षण है जिसमें किसी भी परिवर्तन से परे विशुद्ध चेतना एकमात्र सत्य है, परम सत्य है।

दूसरे, यह प्रश्न एक खुला प्रश्न बना रह सकता है कि क्या उपनिषद केवल इसी दर्शन की शिक्षा देते हैं। किन्तु यह एक तथ्य है कि उपनिषदों में इस दर्शन का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

गीता में, इस दर्शन का उपदेश स्वयं परमेश्वर द्वारा एक ऐसे रूपक से कराया गया है जो अपनी सहजता के कारण अद्भुत है। आत्मा एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर को उसी तरह ग्रहण कर लेती है जैसे कोई मनुष्य अपने फटे-पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण कर लेता है। निस्संदेह, इस बात को कहने का यह बड़ा ही सुन्दर तरीका है कि आत्मा के लिए मृत्यु और जन्म का कोई अर्थ नहीं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से, एक कवि होने के नाते, ऐसे साहित्यिक कौशल के सौंदर्य की सम्भवत: सराहना की ही आशा की जानी चाहिए थी। किन्तु एक ऐसी परिस्थिति का सामना होने पर जिसमें मानवीयता को पथभ्रष्ट किया जा रहा हो, उनके पास प्रकटत: सौन्दर्यशास्त्रीय सराहना का अवकाश नहीं था। इसके विपरीत, इस सुन्दर साहित्यिक व्यञ्जना की आड में छिपे विचार की कुरूपता को देख कर वह भयभीत हो उठे थे। उन्होंने देखा कि साम्राज्यवादियों के विचारधारात्मक शस्त्रागार के अनेक आयुध तथा समाजशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के कितने ही सिद्धान्त समान रूप से इस कुरूपता के साझीदार हैं।

और, ये सब सिद्धान्त एक न एक किस्म के विलोपकारी कौशल पर आधारित हैं। इन्द्रजाल में कुशल व्यक्ति आइने को थोड़ा-सा एक ओर झुकाता है और आपकी आंखों के सामने से वस्तुएं विलुप्त हो जाती हैं। अध्यात्मवादी आपको प्रलोभित कर आपकी सोच-समझ को चिन्तन की भ्रमकारक ऊंचाइयों पर ले जाता है। और फिर समूचे भौतिक जगत को आपकी चेतना से विलुप्त

कर देता है। भौतिक जगत की वास्तविकता का इस प्रकार उन्मूलन कर देने पर, साम्राज्यवादियों तथा अन्य लोगों को अपने मन्सूबे पूरे करने का भरपूर अवसर मिल जाता है। इसी प्रकार, भौतिक जगत को मिथ्या बताने वाले विशुद्ध चेतना के दर्शन का भी अन्ततः अपना एक राजनीतिक प्रयोजन है।

यह सब ऐसी बात है जो एक आधुनिक क्रान्तिकारी या एक आधुनिक भौतिकवादी को कहनी पड़ती है हालांकि वह इसे अपने ही ढंग से कहता है।

बेशक, मुझे यह बताये जाने की जरूरत नहीं कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, वर्तमान अर्थों में, न तो क्रान्तिकारी थे और न भौतिकवादी। मेरे सामने उनकी दस हजार पृष्ठों से ऊपर की संग्रहीत रचनाएं मौजूद हैं जो उन्हें एक आधुनिक क्रान्तिकारी अथवा भौतिकवादी दर्शाने की प्रवृत्ति के खिलाफ अत्यंत प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती हैं। उल्टे, अपने युवाकाल के प्रारम्भ से ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर अत्यधिक धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे जिनकी उपनिषदों के दर्शन से निर्णायक प्रतिबद्धता थी।

ठीक यही कारण है कि उनके जो मन्तव्य हमने ऊपर उद्धृत किये हैं, वे इतने असामान्य प्रतीत होते हैं—और वे वास्तव में असामान्य रूप से महत्वपूर्ण भी हैं। किसी को यह बात पसन्द आये या नहीं, ऐसे मन्तव्य प्रकट करने की केवल क्रान्तिकारियों या भौतिकवादियों से ही अपेक्षा की जा सकती है। और, जब ये क्रान्तिकारी या भौतिकवादी इस तरह की बातें कहते हैं, तो आसानी से उन पर आरोप लगा दिया जाता है कि उनकी जड़ें सच्ची भारतीय परम्परा में नहीं हैं। किन्तु, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बारे में आपका कैसा भी दृष्टिकोण क्यों न हो, आप उन पर उक्त आरोप लगाने की बात नहीं सोच सकते।

तो भी, इस तथ्य से कतरा कर बच नहीं निकला जा सकता कि गहन धार्मिक वृत्ति के इस मनीषी ने—जिन्हें अकारण ही औपनिषदिक ज्ञान में निष्णात नहीं माना जाता—अपने विचारों की एक बार ऐसी शृंखला मुखर की जो मूलतः उपनिषदों में प्रतिपादित और बाद में गीता में पुनः आवृत्त विशुद्ध चेतना के दर्शन पर उनकी पूर्व आस्था पर लगभग सीधी चोट थी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब अपने उक्त मन्तव्य प्रकट किये थे, तब वह सत्तर वर्ष से अधिक आयु के थे। उनके जीवन के अब दस वर्ष भी शेष नहीं रह गये थे। इस कारण उनके ये मन्तव्य और भी अधिक महत्वपूर्ण बन जाते हैं। आम तौर से कहा जाता है कि जैसे-जैसे मनुष्य को मृत्यु की पदचाप निकट आती सुनायी देती है, अमर आत्मा के दर्शन में, जिसके अन्तर्गत मृत्यु एक क्षणभंगुर परिघटना मात्र है, सान्त्वना खोजने की ओर वह प्रवृत्त होता

है। किन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर को इस दर्शन में अब कोई दूसरी ही चीज दिखायी दे रही थी।

मेरे लिए यह कल्पना करना सम्भव नहीं कि जो लोग रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं के अध्ययन के विशेषज्ञ हैं वे इस सबका मेल उनके जीवन और शिक्षाओं से कैसे बैठायेंगे। मैं तो इतना जानता हूं कि शांति निकेतन आश्रम के ईश्वर-रससिक्त गुरुदेव के सुविशिष्ट एकात्म दर्शन को प्रतिपादित करने का जो लोग दावा करते हैं, वे ऊपर उद्धृत अंश की ओर, आम तौर से, ध्यान न देना ही पसन्द करते हैं। एक किस्म की खामोशी की चादर इसके ऊपर तान दी जाती है। कारण शायद यह है कि कवि की जिस तरह की आकृति प्रक्षेपित करने में उन्हें सुख मिलता है उसके साथ आसानी से इसकी पटरी नहीं बैठती। या फिर, कहीं इसका कारण यह तो नहीं कि बात को आगे बढ़ाने पर इसके निहितार्थ दार्शनिकों को उनके सामाजिक उत्तरदायित्व से परे रखने के सुगम हथकण्डों के लिए ज्यादा विनाशकारी सिद्ध हों?

इस चर्चा का यह दायित्व कतई नहीं कि हम ऐसा मेल बैठाने का उपाय सुझायें। इस चर्चा का उद्देश्य रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन पर बहस करना नहीं है। हमने एक दूसरे कारणवश उक्त उद्धरण का उल्लेख किया है। कहा जा सकता है कि यह उद्धरण कवि की एक भिन्न भावदशा को प्रतिबिम्बित करता है। किन्तु जिन लोगों ने **रूस से पत्र** से लेकर **सभ्यता का संकट** तक उनके विचारक्रम को समझने का प्रयास किया है उनके लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जीवन के अन्तिम दौर में उनके चिन्तन में यह मूलगामी मोड़ कवि की मात्र एक भावनात्मक उद्भ्रान्ति प्रतीत होना जरूरी नहीं।

जो भी हो, मैं जिस तथ्य पर बल देना चाहता हूं वह यह है कि—उक्त उद्धरण में अभिव्यक्त साहस तथा स्पष्टता के अतिरिक्त—इसमें भारतीय दर्शन को समझने के उससे कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण सूत्र हैं जितने भारतीय और विदेशी विद्वानों द्वारा विशुद्ध चेतना के दर्शन की प्रशसा में लिखी गयी टनों पुस्तकों में उपलब्ध होंगे—ऐसी प्रशंसा जिसमें बाल की खाल निकालने वाले पंडिताऊपन के साथ प्राय: ही पिष्टोक्तियों की भरमार होती है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर को दिखायी दिया कि युगों से सम्मानित प्राचीन भारत का कोई दर्शन एक राजनीतिक प्रयोजन पूरा कर रहा है। और, ठीक यहीं हमारे लिए नये अनुसंधान का एक विस्तृत क्षेत्र खुलता है। इसका सरोकार हमारी सांस्कृतिक विरासत में राजनीति और दर्शन के बीच सम्बन्ध से है। इस अध्याय में, जिसे बहुत बढ़ाया नहीं जा सकता, इस सम्बन्ध के गिने-चुने पहलुओं पर ही प्रकाश डाला जा सकना संभव होगा।

३. उद्धृत अंश के उपप्रमेय

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का उक्त कथन साम्राज्यवादियों के शस्त्रागार में मौजूद एक आयुध की ओर संकेत करने का उपाय था। ऐसे आयुध समाजशास्त्र और धर्म में भी मौजूद हैं, हालांकि ये दार्शनिक सामग्री से गढ़े होते हैं। इस तरह, राजनीति दर्शन से उतनी अलग-थलग नहीं जितनी कि प्राय: समझी जाती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी बात को सटीक बनाने के लिए जो उदाहरण चुना, वह धर्मशास्त्रीय संस्वीकृति की विराट प्रभा से मण्डित है। यह अद्वैत वेदान्त ही है जिसके बारे में शताब्दियों से घोषित किया जाता है कि इसमें उपनिषदों का सारतत्व समाविष्ट है। और फलत:, इसे उच्चतम धर्मशास्त्रीय संस्वीकृति प्राप्त है। किन्तु यह हत्या और दुराचार को, बिना भेदभाव किये स्वयं अपने बन्धु-बान्धवों के संहार को, न्यायोचित ठहराता है। ऐसी ओछी और क्रूर राजनीति के अलावा, हमारे सामान्य जीवन तक में इस दर्शन की राजनीतिक न्यायोचितता बतायी जाती है। बोते आप हैं, लेकिन फसल काटने का किसी दूसरे को अधिकार है। शूद्र केवल द्विजों को मोटा-ताजा बनाने के लिए खून-पसीना बहाते हैं। लेकिन आप ऐसी मामूली बातों को लेकर परेशान क्यों होते हैं? आखिर अजर-अमर आत्मा तो एक ही है—न तो जो बोता है वह और न जो फसल काटता है वह, न तो भूखों मरने और खटने वाला शूद्र और न उसके श्रम पर तोंदियल बनने वाला द्विज आपके भ्रम की माया से परे हैं! कोई आश्चर्य नहीं कि यह दर्शन—और केवल यह दर्शन ही—विधि-नियामकों को इतना रुचिकर लगा! कोई आश्चर्य नहीं कि उन्होंने इसके विपरीत दर्शन के विरुद्ध, अर्थात लोकायत या चार्वाक दर्शन के विरुद्ध, कठोरतम कदम उठाये जाने के सुझाव पेश किये। इस दर्शन—लोकायत या चार्वाक दर्शन—का भी अपना राजनीतिक प्रयोजन था। हां, यह प्रयोजन भिन्न जरूर था—विधि-निर्माताओं ने जिस चीज का इतने चाव से अनुमोदन किया था, ठीक उसका उल्टा प्रयोजन!

४. विधि-निर्माता और दार्शनिक

इस सबसे भारतीय सांस्कृतिक परिस्थिति का एक विचित्र पहलू हमारी दृष्टि के सामने स्पष्ट होता है। हम विधि-निर्माताओं को दार्शनिक मामलों में गहरी दिलचस्पी लेते देखते हैं। स्वयं कानून का छात्र न होने के कारण किसी प्रकार का सामान्यीकरण करने का प्रयास करना मेरे अधिकार-क्षेत्र से बाहर की चीज है। मुझे यह मालूम नहीं कि कितने देशों के कितने विधि-निर्माताओं ने राज्य को काबू में रखने के लिए विचारधारात्मक हथियार के महत्व को

समझा है, अर्थात, पाशविक बल के प्रयोग के सुविदित उपायों के अलावा विचारधारात्मक हथियार के महत्व को समझा है। लेकिन मुझे यह जरूर मालूम है कि प्राचीन यूनान और रोम के कई राजनेता और राजनीतिज्ञ इसके महत्व को समझते थे। इसी प्रकार, कई प्रमुख दार्शनिक भी, जो राजनीतिज्ञों की भूमिका अपनाना चाहते थे, इसके महत्व को जानते थे। इनमें सबसे प्रख्यात उदाहरण प्लेटो (अफलातून) का है। अपनी कृति **जनतंत्र (रिपब्लिक)** में श्रमिक जनों को नियंत्रण में रखने की समस्या की चर्चा करते हुए उन्होंने उस सब का खुलकर उपयोग करने की सिफारिश की है जिसे वह "उपयोगी झूठी बातें" या "उदात्त झूठ" कहते थे—"उपयोगी" अथवा "उदात्त" अपनी दार्शनिक उपयोगिता के कारण नहीं वरन राजनीतिक कारगरता के कारण! यही कारण है कि **कानून (दि लाज)** नामक अपनी सर्वाधिक परिपक्व रचना में, प्लेटो प्राचीन मिस्र की अश्मीभूत संस्कृति को बड़ी सराहना की दृष्टि से देखते हैं। उनकी इस सराहना का कारण यह है कि प्राचीन मिस्र में मिथकों एवं पौराणिक गाथाओं के सफल प्रचार ने—यद्यपि इन मिथकों व गाथाओं की कोई दार्शनिक अर्थवत्ता नहीं थी—वहां के शासकों को जनसमुदाय को पूरी तरह कब्जे में रखने में बड़े अनूठे रूप में सक्षम बनाया था। प्लेटो के समकालीन एक अन्य यूनानी राजनेता, इसोक्रेट्स, भी अंधविश्वासों का राजनीतिक प्रयोजन मे उपयोग किये जाने के मुखर समर्थक थे : अंधविश्वासों के प्रभाव के तहत जनता की चेतना के कुन्द हो जाने पर, उसके सामने सामाजिक भद्रजनों या शासक वर्ग की मूक रह कर आज्ञा बजा लाने के सिवा दूसरा कोई विकल्प नहीं रह जाता था। और इस कारण ही सुसंस्कृत राजनीतिज्ञ पोलीबियस भी रोमनों की सराहना करता था क्योंकि अंधविश्वासों को वे अपनी राजनीतिक सफलता के एक सुदृढ़ स्तम्भ के रूप में इस्तेमाल करते थे।

इस सबके आधार पर, हमारे लिए यह देख सकना कठिन नहीं कि दर्शन के जिस राजनीतिक प्रयोजन की चर्चा रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने की है, वह कोई नयी चीज नहीं। बहुत प्राचीन काल से ही प्रख्यात विचारक इस प्रयोजन को समझते थे। रवींद्रनाथ ठाकुर के जिस कथन को हमने उद्धृत किया है उसकी विशिष्टता यह प्रतीत होती है कि इस बात को वह बहुत साफ तौर से समझ गये थे कि किसी दर्शन की राजनीति कारगरता की पहली शर्त यह है कि वह इस भौतिक जगत की इन्द्रियानुभूत वास्तविकता को मानव चेतना से विलुप्त कर दे। संक्षेप में, पूर्वशर्त यह है कि भौतिकवाद को हटा दिया जाय। कुछ दर्शनवेत्ता यह कार्य जहां तक दार्शनिक कारणोंवश करते हैं, वहां तक उनके प्रयास की सराहना की जा सकती है। किन्तु, विधि-निर्माताओं ने तो भौतिकवाद के मुकाबले अपनी स्थिति को पूर्णतः सुनिश्चित बना लेने तथा भौतिक-

वादी दृष्टिकोण के खतरे के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में प्रोत्साहन की किसी भी प्रवृत्ति के उभार के विरुद्ध गारंटी कर लेने के उद्देश्य से भौतिकवाद के विरुद्ध वैधानिक कदम उठाये जाने तक की व्यवस्था कर ली थी।

परिणामस्वरूप, हमारी सांस्कृतिक विरासत में एक बड़ी ही विचित्र परिस्थिति उभरी। विधि-निर्माता दार्शनिक मामलों में कुछ जरूरत से ज्यादा ही दिलचस्पी लेने लगे। लेकिन ये विधि-निर्माता तो विधि-निर्माता थे, दार्शनिक नहीं। फलतः वे दर्शन में जो दिलचस्पी ले रहे थे वह दर्शनेतर, अथवा, अधिक स्पष्ट रूप में, ठेठ राजनीतिक ही हो सकती थी। तथापि हमारे आधुनिक विद्वानों में कुछ ऐसी प्रवृत्ति घर कर गयी है कि इस तथ्य को समझना तो दूर, वे अनायास ही विधि-निर्माताओं के फरमानों को भारतीय राजनीतिक परिस्थिति के आधारभूत लक्षणों के रूप में स्वीकार करने की ओर प्रवृत्त होते हैं।

५. अनुवर्ती (आस्तिक) और अन-अनुवर्ती (नास्तिक)

आइए हम एक सुप्रकट उदाहरण से आरम्भ करें। हमारी दार्शनिक परम्परा पर इन दिनों लिखी गयी लगभग सभी पुस्तकों में हम यह पढ़ते हैं कि भारतीय दर्शनों को मोटे तौर से दो कोटियों में वर्गीकृत किया जा सकता है, अर्थात आस्तिक और नास्तिक में। सामान्य शब्दावली में प्रथम से तात्पर्य है, ईश्वरवादी और दूसरे से निरीश्वरवादी। किन्तु हमें यह याद आते देर नहीं लगती कि हमारे दार्शनिक संदर्भ में इन शब्दों में एक तकनीकी व्यंजना निहित है, अर्थात "शास्त्रसम्मत" और "शास्त्रविरुद्ध", या सम्भवतः अधिक सटीक रूप में "अनुवर्ती" और "अन-अनुवर्ती"। लेकिन अनुवर्ती किसके? संक्षेप में कहा जाय तो, वेदों की धर्मशास्त्रीय सत्ता के अनुवर्ती।

शब्दों ने ये तकनीकी अभिधान कैसे ग्रहण किये? निरुक्त के मामलों में हम स्वभावतः सबसे पहले व्याकरण की ओर मुड़ते हैं। किन्तु निराशा हाथ लगने के सिवा परिणाम और कुछ नहीं होता। मीमांसाकार पतंजलि ने और बाद में जयादित्य ने महान वैयाकरण पाणिनि की जो व्याख्या प्रस्तुत की है उसके अनुसार पाणिनि का संकेत यह था कि उक्त दो शब्दों से हम "दूसरे जगत"—स्वर्ग और नरक—में विश्वास करने वालों और विश्वास न करने वालों का अर्थ लें। लेकिन रूढ़िगत रूप से भारतीय दर्शन का जो वर्गीकरण किया जाता है उससे इस बात का मेल नहीं बैठता। उक्त वर्गीकरण के अनुसार चार्वाकों के साथ-साथ बौद्ध और जैन भी, बावजूद दूसरे जगत में अपने विश्वास के, नास्तिक अथवा अन-अनुवर्ती ही हैं। स्पष्ट ही, ऐसे में अनुवर्तन किसी और

चीज के लिए होगा। यह, जैसा कि सहज ही मान बैठा गया है, वेदों की धर्मशास्त्रीय सत्ता के लिए है। तब फिर, इस तकनीकी व्यंजना का स्रोत क्या है ? भारतीय दर्शन के प्रख्यात इतिहासकार एस. एन. दासगुप्त ने साहसपूर्वक उत्तर दिया है : "किन्तु मनु के शब्दों में नास्तिक वह है जो वेद-वचन को परम सत्य नहीं मानता (वेद निन्दक) है।" साफ तौर से निहितार्थ यह है कि जो वेदों की धर्मशास्त्रीय सत्ता को मानता है वही आस्तिक है, अनुवर्ती है।

तो कौन थे यह मनु जिन्होंने वैयाकरणों तक को धता बतायी और शब्दों को एक नया अर्थ दे दिया ? दन्तकथाओं के अनुसार, निस्संदेह वह स्वयं सर्वशक्तिमान परमेश्वर के वंशज थे। लेकिन नितांत सच्ची बात यह है कि वह मात्र एक सर्वाधिक प्रभावशाली विधि-निर्माता थे। इसलिए यह लक्षित करते हमें गर्व का अनुभव नहीं होता कि भाषाशास्त्री न होते हुए भी वह भाषाशास्त्रियों पर और दर्शनवेत्ता न होते हुए भी दर्शनवेत्ताओं पर अपनी बातें थोप सके। क्या यह और अधिक लज्जा की बात नहीं कि वस्तुतः सभी आधुनिक विद्वान उनकी कही बातें बिना कोई प्रश्न उठाये स्वीकार कर लेते हैं और भारतीय दर्शनों के उनके आदेशानुसार निर्धारित वर्गीकरण को आंखें बन्द कर स्वीकार कर लेते हैं ?

६. दर्शन : वैध और अवैध

लेकिन मनु इतने पर ही नहीं रुकते। उन्होंने और आगे बढ़ कर घोषणा की कि तमाम दर्शनों में से केवल वह दर्शन पवित्र और श्रेय—और फलतः वैध रूप से स्वीकार्य—है, जो विशुद्ध चेतना को एकमात्र वास्तविकता माने क्योंकि केवल इसको ही धर्मग्रंथों अथवा वेदों द्वारा संस्वीकृति प्राप्त है। अब यह बात सच है या नहीं, यानी वेदों में केवल यह दर्शन ही है कोई दूसरा नहीं, बेशक एक अलग प्रश्न है। वेदों के किसी वस्तुनिष्ठ पाठक की ओर से इस प्रश्न का उत्तर कि क्या वेदों में केवल यह ही दर्शन है, नकारात्मक के सिवा दूसरा नहीं हो सकता। किन्तु विधि-निर्माता को ऐसे उत्तर की तनिक भी परवाह नहीं थी। विधि-निर्माता के लिए तो वेद, सूक्तों की व्यवस्थित संहिता से अधिक एक राजनीतिक नारे जैसी चीज थे। इसके अलावा हर कोई वेद पढ़ कर सच्चाई को कहीं जान न ले, इसलिए इन्हें पढ़ने के अधिकार को कानूनन सीमित करके इस खतरे को काफी हद तक दूर कर दिया गया : शूद्रों और स्त्रियों को इस विशेषाधिकार से एकदम वंचित कर दिया गया। कार्ल मार्क्स ने एक बार जैसी कि व्यंग्यात्मक टिप्पणी की थी—वेदों की पवित्रता का संरक्षण तो ब्राह्मण इन्हें पढ़ने का अधिकार केवल अपने तक सीमित करके सुनिश्चित कर सके !

जो भी हो, विधि-निर्माता समझ गये थे कि उस समाज की राजनीतिक सुरक्षा के लिए जिसे वे आदर्श मानते थे, जन समुदाय पर एक बुनियादी आचरण विन्यास लागू करने हेतु, युगों पुरानी पुलिस व्यवस्था और कारागार व्यवस्था ही पर्याप्त नहीं; इसके साथ चिन्तन का एक सुनिश्चित विन्यास भी यदि लागू किया जाय तब ही कार्य कुछ आसान बन सकेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने दो आज्ञाएं जारी कीं। पहली : केवल वेद ही धर्मशास्त्रीय घोषणाओं के समागार हैं; इनका अतिक्रमण दण्डनीय अपराध माना जायगा। दूसरी : वेदों में केवल विशुद्ध चेतना का दर्शन उद्घोषित है, फलत: इसके विपरीत कोई भी दर्शन विकसित करने की प्रवृत्ति धर्म-विरोधी मानी जायगी, अत: उसे रोकना ही होगा।

समझ में आने वाली बात है कि इस मामले में सबसे पहले भौतिकवादी दर्शन पर ही कहर बरपा हुआ। उसके विरुद्ध विविध प्रकार के कठोर वैधानिक कदम उठाये गये। साथ ही, स्वतंत्र चिंतन के विरुद्ध, या कहिए ज्ञान की उस शाखा के विरुद्ध जिसे तर्कशास्त्र कहा जाता है, प्रस्तावित कदम भी कम दिलचस्प नहीं थे।

तर्कशास्त्र के विरुद्ध ऐसी दण्ड व्यवस्था क्यों? मनु ने इस सम्बंध में कोई बात अस्पष्ट नहीं छोड़ी। उनके मतानुसार, धर्मशास्त्रों में कही गयी बातों के बारे में प्रश्न उठाने की चेष्टा एक ही स्रोत से उत्पन्न हो सकती है। और यह स्रोत है : स्वच्छन्द रूप से तर्क करने की प्रणाली। जैसा कि उन्होंने कहा "तर्क पर भरोसा करने के कारण ही" व्यक्ति धर्मशास्त्रों की पूर्ण वैधता पर संदेह उठाता है।

एक विधि-निर्माता के रूप में मनु को तर्कशास्त्र से तब कोई आपत्ति नहीं होती, जब वह स्वयं अपनी सार्थकता का परित्याग कर देता और धर्मशास्त्रों में आस्था को न्यायोचित सिद्ध करने को सहमत हो जाता। लेकिन तर्कशास्त्र के साथ दिक्कत यह थी कि उसमें आस्था की सीमाओं में जकड़े न रहने की अन्तर्निहित प्रवृत्ति थी और वह लोगों को ऐसे प्रश्न उठाने को प्रोत्साहित करता था जो विधि-निर्माताओं को अटपटे और अप्रिय लगते थे—नतीजा यह होता कि लोगों में असंतोष फैलता और उनमें विद्रोह की भावना जन्म लेती। इसीलिए तर्कानुयायियों को और बेशक धर्म-विरोधियों को—खदेड़ भगाने की आज्ञाएं जारी की गयीं। आदेश था, "नास्तिकों, वर्णाश्रम व्यवस्था का उल्लंघन करने वालों, पाखंडियों, हेतुकों (तर्कशास्त्र अनुयायियों) तथा दोमुंही बातें करने वालों से किसी को बोलना तक नहीं चाहिए।"

७. प्रचारतंत्र

तर्कशास्त्र के लिए निर्बाध उत्साह की, ऐसे उत्साह की जिसे सहज ही धर्म-विरोध मान लिया जाता था, निन्दा के विधान सम्बंधी साहित्य से और ज्यादा उद्धरण देना जरूरी नहीं। लेकिन इस सन्दर्भ में विधि-निर्माताओं के सामने जो एक विचित्र समस्या खड़ी हो गयी थी उसे लक्षित करना कदाचित रोचक होगा। देश के श्रमरत जनों का तर्कशास्त्र—**हेतु-शास्त्र, तर्क-विद्या या आन्वीक्षिकी** में—जो अबाध विश्वास था, उसकी घोर अवांछनीयता का उन्हें किस तरह आदी बनाया जाय ? समस्या सचमुच कठिन थी। यह केवल इस कारण कठिन नहीं थी कि इन श्रमिकजनों के भाग्य में निरक्षर बने रहना लिख दिया गया था, बल्कि इससे अधिक इस कारण कठिन थी कि—स्वयं विधि-निर्माताओं के दावों के अनुसार—उनके बनाये विधानों को एक किस्म की धर्मशास्त्रीय स्थिति (स्मृति की स्थिति) दे दी गयी थी जबकि शूद्र इतने अपवित्र घोषित किये जा चुके थे कि उन्हें धर्मशास्त्र पढ़ने का अधिकार तक नहीं दिया जा सकता था। ऐसी स्थिति में तर्कशास्त्र अथवा **हेतु-शास्त्र** की अवांछनीयता के सम्बंध में फतवों के केवल **स्मृतियों** में अंकित रहने पर आम जनसमुदाय के दिलोदिमाग पर इन फतवों के प्रत्यक्ष प्रभाव की मुश्किल से ही कोई आशा की जा सकती थी। तो भी, किसी-न-किसी तरह जनसमुदाय पर इस अवांछनीयता का सिक्का तो बैठाया जाना ही था क्योंकि प्रथमतः इस समुदाय को अपने नियंत्रण में रखने के उद्देश्य से ही विधि-निर्माता तर्कशास्त्र की निन्दा करने को इतने आतुर थे !

तो फिर इस समस्या का समाधान क्या था ? इस समस्या को हल किया महान महाकाव्यों—**महाभारत** और **रामायण**—के संशोधकों ने, अर्थात् उन लोगों ने जिनके हाथों से, अपना वर्तमान रूप प्राप्त करने से पहले, ये महाकाव्य गुजरे।

जन-प्रचार के एक माध्यम के रूप में भारतीय महाकाव्यों की भूमिका अभी ही सुविदित है। इनके पाठ द्वारा—विशेषकर देश के ग्रामीण क्षेत्रों में—जनसाधारण के मस्तिष्क में कुछ मूल्यों को दृढ़ता से बैठा देने का प्रयत्न किया गया। "श्रोताओं के रूप में निचले वर्ग जरूरी थे और प्राचीन काल में हुए युद्धों की वीर गाथाएं उन्हें अनायास अपनी ओर आकर्षित करती थीं। इस तरह, ब्राह्मण यदि कोई सिद्धांत जनता के दिमाग में बैठाना चाहते तो उसे बैठाने का सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम ये महाकाव्य ही थे।" "भारत के दोनों महाकाव्यों में...**धर्म-शास्त्र** (अर्थात विधि-संहिताओं) से सम्बंधित अनेक अनुच्छेद...मौजूद हैं...और मध्यकालीन तथा परवर्ती साहित्य में इन्हें ही अधि-

कृत माना गया है।" महाभारत का स्वयं यह दावा है कि इसमें जिन विषयों पर आधिकारिक रूप से बातें कही गयी हैं, उनमें प्रथम स्थान धर्म-शास्त्र का है। इसके अतिरिक्त, काणे लक्षित करते है कि "सातवीं शताब्दी से बहुत पहले ही महाभारत लोक शिक्षा का साधन बन गयी थी और उन्नीसवीं शताब्दी की तरह ही भारत के स्त्री-पुरुषों की सामान्य श्रोता-मण्डलियों के सम्मुख इसे गा-गाकर सुनाया जाता था।" मोटे तौर से यही बात रामायण पर लागू होती है। जन चेतना पर रामायण का प्रभाव तो शायद और भी गहरा है!

उक्त बात को ध्यान में रखते हुए, आइए अब हम अपने मुख्य विषय पर लौट चलें, अर्थात इस विषय पर कि हेतु-शास्त्र या आन्वीक्षिकी पर पूर्णतः भरोसा करना वांछनीय है अथवा नहीं।

८. महाभारत की एक कथा

महाभारत में भीष्म युधिष्ठर को एक कथा सुनाते है जो इन्द्र और काश्यप की कथा के नाम से विख्यात है। एक बार की बात है, एक सौदागर ने, अपनी विशाल सम्पदा में मदान्ध होने के कारण, काश्यप गोत्र के एक ब्राह्मण को अपने रथ से कुचल दिया। ब्राह्मण ने सोचा कि ऐसे घोर अन्याय का परितोष प्राप्त कर पाना अब सम्भव नहीं, अतएव जीना व्यर्थ है। वह अपने प्राणों का अन्त करने को आतुर हो उठा। तभी देवताओं के राजा इन्द्र उसे आत्महत्या से रोकने के लिए एक गीदड़ के छद्मवेश में उसके सामने प्रकट हुए और नीची पशुयोनि में जन्म लेने के दुःखों का उन्होंने बड़े विस्तार से वर्णन किया। उनकी वार्ता का केन्द्रबिन्दु यह था कि मनुष्य की योनि में जन्म लेना बड़े भाग्य की बात है और ऐसे अमूल्य जीवन को जानबूझ कर नष्ट करना उचित नहीं। लेकिन उन्होंने बताया कि शृगाल का यह रूप भी सदा उसका रूप नहीं रहा था। पिछले जन्म में वह मनुष्य था—सच तो यह है कि वह एक सम्मानित और पूज्य ब्राह्मण था। किन्तु इस जन्म मे वह पशुयोनि में पैदा हुआ क्योंकि अपने पिछले मनुष्य जीवन में वह एक घोर पाप कर बैठा था। अपने पिछले जन्म में वह केवल तर्कसिद्ध बातों पर विश्वास करता था और धर्मग्रंथों तक पर प्रश्न उठाने लगा था। शृगाल ने जैसा कि कहा :

> "(पिछले जन्म में) मैं तर्क के निष्फल वाद-विवाद पर आश्रित था। मैं निन्दित अर्थों में पण्डित था, क्योंकि एक तर्कशास्त्री के रूप में मैं वेद-निन्दक था। सभाओं में मैं केवल तर्क प्रस्तुत करता था, जो कि नितांत अनुचित कार्य था। मैं ब्राह्मणों का खण्डन करता था और वे जो कहते

उसके प्रति शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाता था। मैं नास्तिक था और शंकाओं को प्रश्रय देता था। फलतः, अपने को विद्वान समझता हुआ भी मैं निरा मूर्ख था। हे ब्राह्मण, मुझे प्राप्त हुई यह शृगाल योनि इन्हीं सब कर्मों का परिणाम है।"

क्या जनसाधारण के सामने तर्कशास्त्र में रुचि लेने के परिणामों का इससे अधिक भयप्रद वर्णन किया जा सकता है?

रामायण में तर्कशास्त्र की लगभग इसी तरह की निन्दा प्रतिपादित है, हालांकि उसमें यह भावना और जोड़ दी गयी है कि तर्कशास्त्र का अनुसरण करने से भौतिकवादी दृष्टिकोण के पनपने की प्रवृत्ति बढ़ती है। भरत को राम ने परामर्श दिया था कि वह कभी किसी लोकायत को अपना अनुयायी न बनायें, क्योंकि अद्‌भुत धर्मशास्त्रों के होते हुए भी ऐसा व्यक्ति तर्क की ओर प्रवृत्त होता है—और तर्क तो विवाद और अविश्वास उत्पन्न करने की एक प्रविधि मात्र है!

६. सेंसरशिप से बचने का उपाय

इस सबसे हमें उस राजनीतिक वातावरण का जिसमें दर्शनवेत्ताओं को—विशेष कर तर्कशास्त्र के प्रतिनिधियों को—रहना पड़ रहा था, कुछ अनुमान हो जाता है। तो, अपने दर्शन के मूलाधारों की सुरक्षा का उनके सामने कौन-सा रास्ता था?

विधि-निर्माताओं के विचारधारात्मक तकाजों को खुली चुनौती देना और उनका उल्लंघन करना संभवतः केवल तभी मुमकिन होता है जब समाज में रूढ़िवाद-विरोध के ध्येय को अपनाने वाले क्रान्तिकारी वर्ग का उदय होता है, जैसा कि उदाहरणतः आधुनिक योरप में मध्य वर्ग के उदय के साथ हुआ, अथवा जैसा कि आधुनिक मजदूर वर्ग के उदय के साथ हो रहा है। किन्तु, भारतीय इतिहास के बारे में हमें जितनी भी जानकारी है उसके अनुसार प्राचीन भारत में ऐसे किसी वर्ग का उदय नहीं हुआ और समाज का आर्थिक आधार समूचे तौर पर गतिरुद्ध रहा।

तो क्या तर्कशास्त्रानुयायी, विधि-निर्माताओं के तकाजों के सम्मुख चुपचाप आत्म समर्पण कर देते? लेकिन ऐसा करना तो अपने आधारभूत दर्शन को त्याग देने जितना बुरा होता। या अपने दर्शन के संरक्षण में वे धर्म-न्यायाधिकरण के फैसलों का सामना करने का साहस कर सकते थे?

गौतम के न्याय-सूत्र और वात्स्यायन द्वारा उसके भाष्य से प्रतीत होता है कि हमारे तर्कशास्त्रियों ने एक तीसरे विकल्प का प्रयोग किया। उन्होंने विधि-

नियामकों की सेंसरशिप से बच निकलने के वास्ते भारी कीमत चुकाने की कोशिश की। ऐसा उन्होंने किया—विधि-नियामकों के विचारधारात्मक तकाजों को ऊपरी तौर से स्वीकार करके, हालांकि इससे उनके न्याय दर्शन में कई विसंगतियां उत्पन्न हो गयीं।

एस. सी. विद्याभूषण के मतानुसार "ऐसा प्रतीत होता है कि एक लम्बी अवधि से आन्वीक्षिकी की जो कटु आलोचना हो रही थी वह उस समय थमी जब **न्याय-सूत्र** नाम के अन्तर्गत उसने वेदों की सर्वोपरिता स्वीकार कर ली।" यह सत्य है, हालांकि सम्पूर्ण सत्य को देखने के लिए हमें कुछ और भी देखना होगा।

विधि-निर्माताओं का तकाजा था कि वेदों की सर्वोपरिता की स्वीकृति सभी दर्शनवेत्ताओं के लिए बाध्यतापूर्ण है। गौतम और वात्स्यायन ने ऊपरी तौर से इस सर्वोपरिता को स्वीकार कर लिया और **नास्तिक** अथवा धर्म-विरोधी घोषित किये जाने की सम्भावना से बच निकले। लेकिन इसके साथ ही, वे इस बात के पर्याप्त संकेत छोड़ गये हैं कि धर्मशास्त्रों की सत्ता के सामने उनके आत्मसमर्पण को बहुत गम्भीरता से नहीं लिया जाना चाहिए—उनका यह आत्मसमर्पण अपने तर्क-विज्ञान की रक्षा के लिए सत्ताधारियों को दी गयी एक प्रकार की घूस के समान था!

न्याय-सूत्र में वेदों की सर्वोपरिता के समर्थन का पुरजोर दिखावा किया गया है: इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पूरे एक दर्जन सूत्र प्रस्तुत किये गये हैं। तो भी हम जब **न्याय-सूत्र** को सावधानी से पढ़ते हैं तो उसकी अन्तर्वस्तु पर आश्चर्य किये बिना नहीं रह पाते।

वेदों की वैधता के विरुद्ध सबसे कठोर आरोप निस्संदेह यह कथन है कि उनमें झूठी बातें भरी हैं। ऐसा आरोप, गौतम और उनके व्याख्याकार वात्स्यायन ने तर्क दिया, निराधार है। लेकिन यह तर्क उन्होंने प्रस्तुत किस तरह किया? वेदों के विरोधियों का चारित्रिक तर्क वात्स्यायन ने इस तरह प्रस्तुत किया: वेदों में एक यज्ञ का (जिसे **पुत्रेष्टि** यज्ञ कहा जाता है) विधान है जिसके बारे में कहा गया है कि इसे करने से पुत्र की प्राप्ति होती है; लेकिन तथ्य यह है कि इस यज्ञ को करने पर भी बहुतों को पुत्र की प्राप्ति नहीं होती। इस आरोप का उत्तर देने की प्रतीति में वात्स्यायन ने वृहद कर्मकाण्डीय शब्द-जाल का प्रयोग किया है। किन्तु वास्तव में उनका उत्तर क्या है? उन्होंने यह दलील नहीं दी कि प्रस्तावित कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने पर निश्चित रूप से पुत्र की प्राप्ति होगी। उन्होंने स्वीकार किया कि यह सम्भव है कि इसे सम्पन्न करने पर भी किसी को पुत्र प्राप्त न हो। लेकिन इसका कारण तो सहज ही समझाया जा सकता है। इस यज्ञ को सम्पन्न करने पर भी पुत्र की

प्राप्ति तब नहीं होगी जब पुरुष नपुंसक हो, स्त्री रोगग्रस्त हो अथवा संभोग में विकृति हो। क्या इसे सचमुच वैदिक कर्मकाण्ड का समर्थन कहा जायेगा ? या यह मात्र अनुभव-सिद्ध ज्ञान का समर्थन था जिसे धर्मशास्त्रीय विधान के समर्थन का रूप दिया जा रहा था ?

गौतम ने वेदों की सर्वोपरिता के समर्थन में जो आखिरी तर्क प्रस्तुत किया है वह तो और भी विचित्र है। वेद इसलिए सर्वोपरि हैं, उन्होंने कहा, क्योंकि उनमें सर्वोपरिता के सभी चिह्न उपस्थित हैं। लेकिन सर्वोपरिता के ये चिह्न हैं क्या ? इन चिह्नों को आयुर्वेद या चिकित्सा विज्ञान में देखा जा सकता है। तर्क, संक्षेप में मात्र यह दावा है कि सर्वोपरिता का आदर्श आयुर्वेद को माना जाना चाहिए और इस आदर्श के सामने जो वेद खरे उतरें वे सर्वोपरिता का दावा कर सकते हैं। क्या इसे सचमुच धर्मशास्त्रों का समर्थन कहा जायगा ?

इस सम्बंध में मानो कुछ भी अस्पष्ट न छोड़ने कि उद्देश्य से वात्स्यायन ने अपनी मीमांसा में कई चतुराईपूर्ण संकेत छोड़े हैं :

"धर्मशास्त्रीय कथन (**वैदिक वाक्य**) मूलतः सामान्य बातचीत के कथन (**लौकिक वाक्य**) से भिन्न नहीं, क्योंकि दोनों ही ऐसे व्यक्तियों द्वारा रचित हैं जो अपने विवेक को इस्तेमाल करते है।" यह बेशक स्वीकार किया गया कि ऋषि वेदों के रचयिता थे; किन्तु उनके ज्ञान में कुछ भी असामान्य अथवा अलौकिक नहीं था। वात्स्यायन के अनुसार :

> **"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य**
> **चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा।"**

अर्थात, "वेदों की वैधता उनके उपदेष्टाओं की विश्वसनीयता के कारण है और ऐसा ही सामान्य शब्दों की वैधता के बारे में है।" इतना ही नहीं, और भी :

> **"साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तया प्रवर्तत इत्याप्तः**
> **ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्..."**

अर्थात,

> अर्थ को दृढ़ प्रमाण से निश्चित करने को आप्ति कहते हैं, उससे जो व्यवहार करे उसे आप्त कहते है। शब्द प्रमाण का यह लक्षण द्रष्टाओं (**ऋषियों**), उदात्त पुरुषों (**आर्यों**) और बर्बर लोगों (**म्लेच्छों**) के लिए समान है।...

इतने पर भी वात्स्यायन ने वेदों की धर्मशास्त्रीय सर्वोपरिता का समर्थन करने का जबर्दस्त दिखावा किया है। इसके सिवा कोई तर्कशास्त्री कर ही क्या सकता था जब विधि-निर्माता का तकाजा हो कि वेदों की सर्वोपरिता के प्रति जो दर्शनवेत्ता प्रतिबद्ध न होगा उसे समाज से खदेड़ भगाया जायगा !

१०. समापन टिप्पणियां

इस तरह, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आखिर कोई गलत बात नहीं कही थी। साम्राज्यवादियों के शस्त्रागार में, समाजशास्त्र में और धर्म में, दार्शनिक सामग्री से निर्मित आयुध मौजूद हैं। उनका प्रयोजन है वास्तविकता को छिपाना और पर्दे की इस आड़ से सर्वसाधारण पर विनाश बरपा करना। भारतीय दर्शन में यदि चार्वाकों और लोकायतों ने ऐसे आयुधों के खिलाफ अकेले ही लोहा लिया तो दूसरों ने इन आयुधों से बचाव के दूसरे उपाय अपनाये।

यहां एक ही बात और जोड़ देने का लोभ हो रहा है। घोर धर्म-विरोधियों के रूप में निन्दित चार्वाकों को विधि-निर्माताओं ने समाज से खदेड़ भगाने की भरपूर कोशिश की। उनके विरुद्ध दूसरे दर्शनवेत्ताओं ने कटु उक्तियों का बवंडर खड़ा कर दिया। किन्तु क्या इन तमाम हथकंडों के जरिये भौतिकवाद से जनसाधारण के स्वतः लगाव को मिटाया जा सका? ऐसा लगता है कि इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है। जनता के बीच इसके व्यापक प्रसार और चलन के कारण ही इसे लोकायत कहा गया। यदि बात ऐसी है, तो इसे जनता की चेतना से पूर्णतः उखाड़ फेंकना आसान काम नहीं था। आज देश में काफी संख्या में ऐसे गैर-रूढ़िवादी समुदाय हैं जिन्हें, किसी बेहतर वर्णनात्मक संज्ञा के अभाव में, एस. बी. दासगुप्ता ने "अज्ञात धार्मिक सम्प्रदाय" कहा है। वे वेदों की सर्वोपरिता की हंसी उड़ाने वाले गीत गाते हैं, स्वर्ग और नरक को महज काल्पनिक चीजें बताते हैं : वे आत्मा के अस्तित्व से इन्कार करते हैं और शरीर के महत्व की प्रशंसा करते हैं। शरीर से अधिक कोई दूसरी चीज उनके लिए महत्वपूर्ण है ही नहीं और प्रत्यक्ष इन्द्रिय-बोध से श्रेष्ठ ज्ञान का कोई दूसरा स्रोत नहीं है। देश के जिस भाग में हम रहते हैं उसमें उन्हें विविध नामों से जाना जाता है, जिनमें सर्वाधिक प्रचलित नाम सहजिया है। एच.पी. शास्त्री ने तो यहां तक अनुमान प्रस्तुत करने का साहस किया है कि ये प्राचीन लोकायतों का ही एक अवशिष्ट अंग हैं। यदि इस बात में कोई सच्चाई है तो हमें स्वीकार करना होगा कि लोकायत दृष्टिकोण आज भी पूर्णतः निर्मूल नहीं हुआ। निश्चय ही इसका यह अर्थ कतई नहीं है कि उनके पुरातनकालीन भौतिकवाद की ओर, जिसमें कि अपरिहार्यतः तमाम किस्म की आदिम कल्पनाओं का मिश्रण था, लौट चलने की कोई बात कही जा रही है। आगे चल कर तो उनके बुनियादी दृष्टिकोण पर किस्म-किस्म की कितनी ही धार्मिक और छद्म-धार्मिक बातें भी ऊपर से थोप दी गयीं। किन्तु इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि सर्वसाधारण—खासकर निचली श्रेणियों के लोग—भौतिकवाद के किसी न किसी रूप से सहजतः जुड़े रहे हैं। ●

अनुक्रमणिका

भूल-सुधार

पुस्तक में **जयराशि भट्ट** का नाम **जयश्री भट्ट** हो गया है। कृपया इसे **जयराशि भट्ट** ही पढ़ें।